आपका लखनऊ

योगेश प्रवीन

समर्पण

'आपका लखनऊ'

विकास पुरुष

माननीय श्री लाल जी टंडन 'बाबू जी'

के नाम

जो लखनऊ को लेकर जिए

और

लखनऊ के ही होकर रहे हैं।

आपका लखनऊ

आप तक पहुंचाने में

श्रीवर नवनीत सहगल जी
(जिलाधिकारी)

एवं

श्री उदयवीर सिंह यादव जी
(सिटी मजिस्ट्रेट)

के प्रति हृदय से आभारी हूँ

— योगेश प्रवीन

मेरी तरफ़ से

अर्ज़ है कि योगेश प्रवीन और उनकी कृतियां आज लखनऊ का पर्याय बन चुकी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्या शहर वाले और क्या बाहर वाले जिनको ज़रा भी लखनऊ से लाग लगाव है वो सब उनको सुनने पढ़ने के लिए बराबर ही बेचैन रहते हैं। मेरे ख़याल से लोग इस तरह उनके कृतित्व को ही नहीं उनके अन्दर के आदमी को भी बाक़ायदा पढ़ते हैं –

तेरा नाम कितना है मुख़्तसर
तेरा ज़िक्र कितना तवील है

मैं उतना कुछ व्यक्तित्व निरुपण तो नहीं कर सकूंगा उनका जितना उन पर पी.एच.डी. करने वालों ने उनके स्वभाव और सदाचरण के बारे में लिखा है। हां जो कुछ मेरे मन में है, वो कहना चाहूंगां। हम दोनो सात पुश्तों से लखनऊ के है इतना मालूम है, और फिर मैं प्रवीन का अभिन्न मित्र और बहनोई होने के नाते उन्हें बहुत क़रीब से जानता हूं। उनकी निगाह की पकड़ और कलम की धार दोनो ही बहुत तेज़ हैं जिसने उन्हे इस प्रतिष्ठा और लोकप्रियता तक पहुंचाया है। 'प्रवीन' लेखक, कवि होने के अलावा जो मिज़ाज और एखलाक़ का रुतबा रखते है वो एक बड़ी बात है। साहबे सुख़न और साहबे फ़न (जहां तक मेरा ख़याल है शायद हर एक फ़न में) तो हैं ही लेकिन उनका एक विशिष्ट सद्‌गुण जो मैंने पाया वो ये कि उन्हें हर हाल में, हर दुख सुख में, हर छोटे बड़े के साथ, हर तबके के इन्सान की सोहबत में हमेशा बाकायदा खुश और मस्त रहना आता है। वो, अपने आप को बिना किसी व्यसन के इस कदर सहज और स्वाभाविक रखना जानते है कि किसी किस्म के कोई तनाव या दबाव उनका दामन छू नहीं पाते हैं। ये आध्यात्मिक सुसम्पन्नता ही शायद कामयाबी का वो अक़सीर नुस्ख़ा है जिसने लोगों को ज़माने में बड़ी से बड़ी अज़मत बख्शी और जिसे आज की पीढ़ी को ज़रुर जानना चाहिए, समझना चाहिए –

योगेश प्रवीन की रचनाओं में लखनऊ की लाजवाब आसान

ज़बान, मज़ेदार मुहावरे, अवध के संस्कारी रंग और ज़मीन से जुड़ी सच्चाइयां ऐसे आती है कि पढ़ने वालों के दिलो दिमाग पर छा जाती हैं और मन को मुग्ध किए बिना नहीं रहती। उनका सम्मोहन ऐसा है कि लगता है वो हमसे और सिर्फ हमसे बात कर रहे है। उनके काव्य में भी एक अद्‌भुत चिन्तन रहता है। उनकी इस लेखन शैली ने उन्हें पाठकों के बहुत क़रीब तक पहुँचा दिया है।

'आपका लखनऊ' में उन्होंने लखनऊ की अनमोल पहचानों, नगर के ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और ललित सन्दर्भों को बड़े क़रीने से एक जगह समेटा है इस नाते ये ग्रन्थ अद्वितीय ही नहीं एक क़ीमती सौग़ात भी है। अतीत के ये वैभवपूर्ण अनुभव, वर्तमान को सवारने और भविष्य को सुनहरा बनाने के खूबसूरत बहाने बनेंगे ऐसा मेरा विश्वास है। 'हसन' फ़तेहपुरी का एक शेर है –

'हाल को मुस्तक़बिल की ख़ातिर
जोड़ रखा है माज़ी से
तीर को जितना पीछे खींचो
उतना आगे जाता है।'

(हाल – वर्तमान, मुस्तकबिल – भविष्य, माज़ी – अतीत)

ले० कर्नल डॉ. विष्णुराम
(अवकाश प्राप्त)

विवेक खण्ड
गोमती नगर,
लखनऊ

जी की बात

लखनऊ का नाम लेते ही होंठ किसी चाशनी में डूब जाते हैं। एक अजब कशिश रही है यहाँ के वातावरण में, यहाँ के जमीनों आस्मान में, बातचीत के अन्दाज़ में नाज़ो नयाज़ में, अवध की इसी गंगा जमुनी तहजीब ने सारे ज़माने को अपने जादू में बाँध रखा है।

सूर्यवंश के प्रतापी वीर सुमित्रानन्दन लक्ष्मण की परिकल्पना लक्ष्मणपुर बनकर अवतीर्ण हुई जो अनेक राजवंशों (राजपूत, गहड़वाल, राजभर, रजपासी) की छत्रछाया में लखनावती बनकर पल्लवित हुई। फिर शेखों, नवाबों की निगरानी में लखनऊ निखरा और आज की दुनिया का यह नामचीन शहर न सिर्फ उत्तर प्रदेश की राजधानी है बल्कि मनोहर मानवता के पक्षधर अनन्त लोगों के दिलों पर राज भी करता है। उसका प्रमुख कारण है कि तहज़ीब का सबसे खिला हुआ रंग लखनऊ के पास है जिस में शोखी के साथ शालीनता भी है और नफासत के साथ नसीहत भी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लखनऊ पूरे अवध की आईनेदारी करता है। "आपका लखनऊ" में अवध की उसी तहजीब के तमाम पहलू और बेहतरीन मंजर आपको मिलेंगे। और यक़ीन है कि गुलशनें अवध की बहार का ये खुशगवार झोंका आपके दामन से लिपटे बिना नहीं रहेगा। आपका लखनऊ आपके आगे लाने में मेरे विशिष्ट सहयोगी रहे है मेरे प्रिय अनुज चिरंजीव इं० कामेश श्रीवास्तव, अशेष और हरीशं इस कृति की तैयारी में मेरा साथ देने वाले सुप्रिय अतुल, आनन्द, सौरभ, गौरव, अमित त्रिवेदी, नमन प्रभु, आर्यन प्रभु और अशान्त की विशेष भूमिका रही है उनके प्रति मेरा विशेष स्नेहाशीष। इस प्रतिलिपि का टंकण श्री संजीव गिरि गोस्वामी द्वारा किया गया है। श्री प्रकाश भार्गव का अपूर्व मुद्रण और 'डाट एन्ड लाइन' की आवरण सज्जा पुस्तक के आभूषण है और मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। फिर सबसे अधिक कृतज्ञता उन अनेकानेक सुधी पाठकों के प्रति जिनके अपार प्यार की सामर्थ्य पाकर ये पुस्तक लिख रहा हूँ।

'इश्क उनको अता नहीं होता
जिनके दिल में खुदा नहीं होता'

जिस सुहानी धूपछाँव का नाम 'लखनऊ' है उसके प्यार का पैगाम आप सबके नाम है, इसलिए लखनऊ पहले हमारा नहीं है हमसे पहले आप का है– "आपका लखनऊ"

कार्तिक पूर्णिमा २००२

– योगेश प्रवीन

लखनऊ मेरे शहर, मेरे शहर, मेरे शहर
अदब की फ़न की अंजुमन है जहां आठों पहर
हर एक रंग में तू मीर है, ऐ जाने जिगर
तेरे बग़ैर ज़िन्दगी में कुछ नहीं बेहतर

लखनऊ मेरे शहर, मेरे शहर, मेरे शहर

तेरी मुमताज़ रौनकें, निहार लूं तो चलूँ
शीशए हर्फ़ में तुझको, उतार लूं तो चलूँ
चंद लमहे सुकून से, गुज़ार लूं तो चलूँ
ऐ मुहब्बत तुझे दिल से, पुकार लू तो चलूँ

लखनऊ मेरे शहर, मेरे शहर, मेरे शहर

— योगेश प्रवीन

आपका लखनऊ

विषयक्रम : **पेज नं.**

लखनऊ नगर और संस्कृति

धरती के सीने पर घूमता हुआ समय का कालचक्र सदा से इतिहास लिखता हुआ चलता है। मर्यादा पुरुषोत्तम के अनुज वीरवर लक्ष्मण, जानकी को बिठूर के वाल्मीकि आश्रम के निकट छोड़कर जब अयोध्या की ओर लौट रहे थे तो गोमती के दाहिने तट पर इसी सरजमीन पर उनके रथ के पहिए एकाएक ठहरे थे। उन्होंने अयोध्या जाने से पहले अपना कुछ समय यहाँ बिताया था, अपने मन की उदासी को मिटाने का कुछ उपक्रम इसी रमणीक स्थान पर किया था, और इस तरह आदि गंगा के किनारे लक्ष्मणपुरी की बुनियाद पड़ी थी।

लखनलाल की जागीर का केन्द्र बिन्दु गोमती के किनारे बना हुआ यह लक्ष्मणकोट रहा होगा, जिसके खण्डहरों को अब लछमन–टीले के रूप में देखा जाता हैं और जो अपने दामन की हरसिलवट में सभ्यता की एक अलग पर्त समेटे हुए है।

आज हम लखनऊ की जिस सभ्यता की सराहना दूर–दूर तक करते हैं, उसके पीछे कोई एक–दो शती का इतिहास नहीं हो सकता बल्कि उसके मूल में रामानुज लक्ष्मण का चरित्र हैं। लक्ष्मण का आदर भाव, परमार्थीकर्म, त्याग और तपस्या का आचरण है जो यहां की मिट्‌टी में रच–बस गया और उसी की खुशबू इस शहर पर छायी रही है, जिसे हम लखनवी तहजीब कहते हैं। भारतीय परम्परा में बड़ों के चरण छूकर अपने माथे तक हाथ ले जाने की प्रथा का ही संक्षिप्त संस्करण लखनवी सलाम की अदा है। यह लखनऊ की पहली करवट थी जिसके साथ ये मिट्‌टी जाग उठी थी, फिर तमाम सदियां अपने निशाने कदम छोडती हुई उस पर से गुज़र गई।

लखनऊ को लेकर कहा जाता है कि मध्यकाल में जब विदेशियों ने इस अंचल में पांव रखा तो पाया कि गोमती नदी के दाएं तट पर यह नगर दण्डक शैली में अर्थात छड़ी की तरह लम्बाई में

बसा हुआ है। नगर का परिवेश कुछ निराला ही था, तमाम ऊंचे–नीचे टीलों की तलहटी में बस्तियां बसी थीं, इन हरे भरे टीलों के शिखर पर सिद्धों, ऋषियों के आश्रम या मठ थे और नीचे की आबादी में ब्राह्मण, कायस्थ, वैश्य, मारशिवों, रजपासियों का बोलबाला था। नाग वंशी भर, वीरवर लक्ष्मण के अस्तित्व की पहचान भी थे और जो भूमिगत आवास बनाने में पारंगत थे तो रजपासियों के बनाए तीर सारे भारत में मागे जाते थे। इन माहिर तीरन्दाजों का कोई जवाब नहीं था। मौर्य, कुषाण, गुप्त तथा राजपूत काल के बाद इन दो वीर जातियों ने यहां सदियों राज किया था।

लखनऊ गज़ेटियर के अनुसार लखनऊ किसी समय प्राचीन कोसल साम्राज्य का एक भाग था और उस से ही इस नगर का नाम भगवान रामचन्द्र जी के अनुज लक्ष्मण जी के नाम से लक्ष्मणपुरी रहा है जो बाद में अपभ्रंश स्वरूप लखनावती और फिर लखनऊ हो गया।

भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम से सम्बन्धित लोकगीतों में लखनऊ की जनता द्वारा गाया जाने वाला एक लोक गीत उल्लेखनीय है जो जाने आलम के कलकत्ता चले जाने के बाद गाया जाता था।

हज़रत बिन प्यारे, आज लखनपुर सूना

किनने कीन्हीं लड़इया, कवन गढ़ लीन्हा

अब कवन बहादुर आय मुग़ल सरकीन्हा

(पृष्ठ नं. 30 अवधी का लोक साहित्य – डॉ. सरोजनी रोहतगी)

औरंगजेब द्वारा बनवाई गई लक्ष्मण टीले पर उस बंड़ी मस्जिद को टीले वाली मस्जिद कहा जाता है। इस टीले पर आज शाह पीर मुहम्मद का रोजा भी है जिस पर नक्शे चाँबीस का पत्थर लगा हुआ है इसलिए मुस्लिम वर्ग में इसे मुहम्मद शाह का टीला भी कहा जाता है। लखनऊ के इतिहास में लक्ष्मण टीले का सबसे अधिक महत्व है।

सभ्यता और आबादी का केन्द्र होने के कारण शेखों ने पुराने भग्नावशेषों पर अपना मच्छी भवन इसी के निकट बनवाया। नवाबी युग में गोमती पर पहला पुल इसी के करीब बनवाया गया और फिर नवाब आसफुद्दौला ने अपना प्रसिद्ध इमामबाड़ा भी इसी के सामने बनवाया।

आदि गंगा गोमती के किनारे इस प्रसिद्ध तीर्थ के कारण ही उस ज़माने में लखनावती को छोटी काशी की संज्ञा दी गई है। ईसा पूर्व 10,00 तक यहां दूर–दूर स्थानों से तीर्थयात्रियों के आने के प्रमाण भलीभाति मिलते है। ये वितरण और लखनावती नाम यहां के जैन ग्रन्थों, पाण्डुलिपियों में मिलता है।

शेष तीर्थ के पश्चिम में कुछ दूरी पर गोमती नदी के तट पर ही कौडिन्य ऋषि का आश्रम रहा है और वहीं स्थल अब कुड़िया घाट के नाम से जाना जाता है। नवाबीकाल में इसी जगह के पास राजा भवानी महरा का मकान और राजघाट था लेकिन सन 1857 में जंगे आजादी के दौरान जब यहां बना हुआ बहू–बेगम का महल "सुनहरा बुर्ज" चकनाचूर हो गया तो राजा महरा की इमारते भी मिट्टी में मिल गयीं। कोण्डिन्य आश्रम के दक्षिणी–पश्चिमी कोने में जो कोण्डिन्येश्वर महादेव मंदिर है, उसे ऋषि का इष्ट देवालय बताया जाता है लेकिन कुछ लोग कोनेश्वर शिवाले को रावण के इष्ट कोर्णेश्वर शिव से संबधित बताते हैं जिनकी पूजा प्रतिष्ठा लक्ष्मण जी द्वारा रावण से सीखे गए उपदेशों के साथ प्राप्त की गयी थी। सर्वविदित है कि दक्षिण से ही शिवभक्ति का पावन संदेश उत्तर भारत को प्राप्त हुआ है।

लक्ष्मण टीला 200 मीटर लम्बा, 120 मीटर चौड़ा है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् डॉ. साकलिया ने बताया है कि लक्ष्मण टीला में प्राचीनतम अवशेषों का बड़ा संग्रहालय है। इस स्थान से प्राप्त काली, भूरी, हरी, चमकीली पालिश वाले बर्तनों के टुकड़े, राष्ट्रीय पक्षी मयूर की एक सुन्दर मिट्टी की मूर्ति तथा अन्य अवशेष सुप्रसिद्ध विद्वान एवं

उपन्यासकार स्व. अमृतलाल नागर जी के संग्रहालय में सुरक्षित थे। श्रद्धेय नागर जी ने लखनऊ के प्राचीन इतिहास की जानकारी देने के संदर्भ में लक्ष्मण टीले पर उल्लेखनीय कार्य किया है। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार टाल्वायज़ व्हीलर ने आर्यों की दस आदिम गढ़ी में से एक का लखनऊ में होना बताया है। लखनऊ का सांस्कृतिक इतिहास, पर्त दर पर्त पुरातात्विक अवशेषों के रूप में जिस स्थान पर आज भी मिट्टी के नीचे सुरक्षित माना जाता है वह लक्ष्मण टीला ही है। इसी क्षेत्र से ईसा पूर्व कई सदी के अवशेष, शुंगकाल, कुषाण काल और गुप्तकाल की ईटें प्राप्त हुई हैं कालान्तर में लखनावती के पुराने व्यावसायिक केन्द्र के इस इलाके को परिवर्तित करके यहा गढ़ी मच्छी भवन का निर्माण किया गया। अवध क्षेत्र तथा आस–पास की शस्यश्यामला धरती फलफूल और अन्न धन से सदा ही सम्पन्न रही है इसीलिए क्षेत्र के इस केन्द्रीय मांग को अनाज वितरण को बड़ी तिजारती मण्डी बनाया गया था जिसे ब्रिटिश इतिहासकारों ने "मैगनस इम्पोरियम" का नाम दिया है।

लखनऊ जनपद में बहुत प्राचीन काल से पुरोहितों के संकल्प पाठ में लखनऊ कभी नहीं पढ़ा जाता, लक्ष्मणपुरी ही मुखरित होता आ रहा है, और वो पाठ निम्नवत् है "ऊँ विष्णुः विष्णुः विष्णुः अधैतत्य ब्रह्मण्मेडिन्ह द्वितीय परार्धे श्रीश्वेत वाराह कल्पे, वैवस्वत मन्वन्वरे अष्टाविंशाति तमे कलयुगों प्रथम चरणे बौद्धावतारे जम्बूदीपे भरत खण्डें, भारतवर्षे लक्ष्मणपुर क्षेत्रे मासानुत्तमें..."

विश्वविख्यात पाश्चात्य इतिहासकार ए.एल.बासम ने ठीक ही लिखा है कि "लखनऊ को केवल मध्यकालीन मुस्लिम शासन से नहीं परखा जा सकता, इस प्राचीन नगरी को इतिहास के वृत्त में समग्र रूप से समेटने के लिए रामायणकाल तक जाना होगा जब रामानुज लक्ष्मण जी ने इस नगरी की नींव डाली।" श्री गोकुल चन्द्र रस्तोगी की प्रसिद्ध नज़्म का एक अंश भी प्रस्तुत है...

राम के भाई से है मंसूब तेरा सिलसिला,

लक्ष्मन के नाम पर ही नाम था तुझको मिला,

अब ज़माने के तगय्युर का न कर शिकवा–गिला,

ये खिराजे इरतिका, ऐ सर ज़मीने'लखनऊ।

लखनऊ ने दूसरी करवट अठारहवीं सदी में ली जिसे अंगड़ाई की संज्ञा दी जा सकती है। इस तरह इस शहर का सितारा सन् 1775 में चमका, जब नवाब आसफुद्दौला ने फैजाबाद को छोड़कर लखनऊ को अवध की राजधानी बनाया। आसफुद्दौला की हुकूमत में लखनऊ की रौनक दिन–दूनी रात–चौगुनी बढ़ने लगी।

नवाब आसफुद्दौला ने इस शहर को खूबसूरत महलों और बेहतरीन बाग–बगीचों से सजा–संवार कर रख दिया। आसफुद्दौला का बनवाया हुआ रूमी दरवाजा आज लखनऊ की सिगनेचर बिल्डिग हैं। उनका बनवाया हुआ आसफ़ी इमामबाड़ा जो सन् 1784 के आपातकाल में निर्मित किया गया था, अपने बेजोड़ स्थापत्य के लिए सारी दुनिया में मशहूर है।

यह वह वक्त था जब दिल्ली उजड़ रही थी और लखनऊ आबाद हो रहा था। इसलिए बड़ें–बड़ें गुणवान, कलाकार, कारीगर, जौहरी, साहबेफ़न, साहबे सुखन और शायर लखनऊ आकर बस गये थे, मीर, सौदा जुर्रत, मुसहफ़ी और इन्शां जैसे शायरों का यही ज़माना था।

इसके बाद नवाब सआदत अली खाँ ने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ लखनऊ का विस्तार किया और अवध के खज़ाने को चांदी–सोने के सिक्कों से लबालब कर दिया और अंग्रेजी तर्ज़ की कोठियों की क़तार खड़ी कर दी। लखनऊ के सजने–संवरने की अगली रफ्तार में बादशाह गाज़ीउद्दीन हैदर का जमाना था। यह अवध के पहले बादशाह थे जिनके शासन काल में अवध का दरबार हिन्दुस्तान का सबसे शानदार दरबार माना जाता था। शहर में छतर मंजिल, शाहनजफ, शहंशाह मंजिल और विलायती बाग लहलहा

उठे थे।

अब तक लखनऊ हस्तकलाओं के लिए सारी दुनिया में मशहूर हो, चुका था। यहां की परम्पराएं संस्कृति या कलाकृतियां इतिहास की अनमोल सामग्री बन चुकी थीं। लखनऊ अब हिन्दू धर्म के सनातन, जैन, बौद्ध, सिख पथ के साथ–साथ सूफी सम्प्रदाय और इमामियां मजहब का गढ़ बन चुका था।

सन् 1827 में बादशाह नसीरूद्दीन हैदर की ताजपोशी के जुलूस में शिरकत करने वाली विदेशी पर्यटक महिलाओं ने लखनऊ की दरबारी तहजीब, नफ़ासत, पुरतकल्लुफ आराइशों और लिबासों के साथ–साथ यहाँ के रस्मों आदाब की ज़बरदस्त तारीफ की है। उन लोगों ने यहाँ के बाग़ों और महलों को अलिफ–लैला की कहानियों की तस्वीर बताया है।

अवध के तीसरे बादशाह मुहम्मद अली शाह ने हुसैनाबाद के फिरदौस को संवार कर लखनऊ के माथे पर चाँद रख दिया। हुसैनाबाद का इमामबाड़ा और उस के साथ के मकबरे, सुनहरे गुम्बदों और कलियों, चहार दीवारियों और कंगूरों को देखकर विदेशी पर्यटकों ने इसे 'क्रेमलिन ऑफ इण्डिया' का नाम दिया था।

लखनऊ के चौथे बादशाह अमजद अलीशाह के समय में हज़रगंज, अमीनाबाद बसा और फिर सन् 1847 में नवाब वाजिद अली शाह तख्ते सल्तनत पर जलवा अफरोज हुए। यह लखनऊ में ललित कलाओं के चरण उत्कर्ष का जमाना था। उन्होंने 80 लाख की लागत से कैसरबाग की महलसरा बनवायी और वही उनके ख्वाबों की जन्नत थी। दर असल कैसरबाग ही उनके तमाम इल्मों अदब की गतिविधियों का केन्द्र था।

जाने आलम वाजिद अली शाह बड़ें साहित्य प्रेमी थे। गद्य और पद्य दोनों पर उन्हें समान अधिकार था। संगीत और नृत्य दोनों में ही वे पारंगत थे। यह कत्थक और ठुमरियों के लालन–पालन का युग

था, ठाकुर प्रसाद, कालिका, बिन्दादीन का ज़माना था। जाने आलम के अहद में ही मिर्जा दबीर और मीर अनीस ने मरसिए में अपनी कलम का नूर बिखेरा और लखनऊ सोज़ख्वानी का मदरसा बन गया। शेरों सुखन के शबाब का ये वो आलम था कि उर्दू जबान के इतिहास में दिल्ली स्कूल के मुकाबले में लखनऊ स्कूल ने सर उठा लिया था।

आख़िरी ताजदारे अवध के वक्त में लखनऊ की बाजारें दमिश्क और मिस्त्र की बाजारों से टक्कर लेने लगी थीं। महल और बागों के लिए लखनऊ की बराबरी बेलीलोन से की जाती थी। अकबरी दरवाजा, नख़ास और चौक अपनी शानोंशौकत के नुमाइन्दे बन चुके थे। यहाँ के चिकन, हाथी दांत, चांदी–सोने और कुन्दन के जेवरात, मिट्टी के खिलौने, बीदर का का काम, रूपहले वर्क, इत्र–तेल, जर्दा, तम्बाकू, कलमी आमों, सफेद खरबूजों, जरदोजी, कामदानी, गोटा–जरी के काम की शोहरत सातवें आसमान पर पहुंच गई थी।

लखनऊ अपनी बैठकों, महफ़िलों, पतंगों, और हुक्के के शौक के लिये मशहूर था। रईसों के दिल बहलाव के सामान तीतरबाजी, बटेर–बाज़ी, कबूतर–बाज़ी तक ही सीमित नहीं थे, यहाँ के भाड़ों की नक़ेलें, तवायफों के मुजरे लतीफ़े बाजों की महफ़िलें क़िस्सागोई के रंग भी अपने नाम से सरनाम थे।

सरज़मीन लखनऊ की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि हर दौर में यहां कोई न कोई क्रान्ति या आविष्कार होते रहे है। चाहे वो सामाजिक क्रान्ति हो, साहित्यिक क्रान्ति हो या सांस्कृतिक क्रान्ति हो, लखनऊ ने हमेशा सारे देश को एक न एक नया संदेश दिया है।

लखनऊ का जिक्र आते ही यहां की शानदार इमारतों, खूबसूरत बागों, चौक, अमीनाबाद और हजरतगंज की रौनकमन्द बाजारों का ख्याल आता है, लेकिन लखनऊ दर असल किसी शहर, सलतनत या

जगह का नाम नहीं है एक तहजीब, कला, साहित्य, संस्था का नाम है।

हमारे देश की राजनीतिक राजधानी अगर दिल्ली है तो लखनऊ को हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक राजधानी मंजूर करना कुछ गलत नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि दिल्ली और लखनऊ की तहजीबों के टकराव में भी लखनऊ ने बाज़ी मार ली है।

एक बार हैदराबाद दक्खिन के निजाम दरबार में दिल्ली स्कूल और लखनऊ स्कूल की जबानों में प्रतियोगिता हुई, ये तय पाने के लिए कि इन दोनों सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक गढ़ों में सभ्यता के सिलसिले में कौन आगे है। रात भर दिल्ली और लखनऊ के नामवर शायरों के बीच शेरों–शायरी की जंग जारी रही, तमाम तकरीरें हुई और कसीदे पढ़ें गये। इस तरह वो रात गुजरी और फैसले का सबेरा हो गया। सुबह जजों से राय माँगी गयी तो जजों ने सिर्फ इतना फरमाया...

"लफ्जों के उस हुजूम में जो कुछ भी रहा हो कुछ याद नहीं, हाँ इतना जरूर महसूस हुआ कि सारी रात दिल्ली वाले बात–बात में "हाँ, जी' 'हाँ, जी' कहते थे और लखनऊ वाले 'जी हाँ' 'जी हाँ' कहते न थकते थे।"

लखनऊ का नाम जब भी कहीं लिया जाता है तो लखौड़ी ईट की कुछ शानदार इमारतें, मछलियां के मुबारक जोड़ें, नाजुक से खिलौने और गोमती के खूबसूरत किनारे नजर में कौंध जाते हैं, नाक में इत्र किवाम या हुक्के के चम्बलों से उठती खुशबू समा जाती हैं, कानों में भैरवी की तान और नाजनीनों के घुंघरू बज उठते है या फिर 'किव्ला आप', 'किव्ला आप' के साथ एक शाइस्ता ज़बान के अल्फ़ाज़ गूंजने लगते है। और मुंह में दसहरी आम, सफ़ेदा खरबूज़े, बालाई या गुलाब रेवड़ी की मिठास भर जाती है। इस तरह लखनऊ एक साथ दिलों जेहन पर छा जाता है। मगर लखनऊ का अस्तित्व इसके सिवा भी बहुत कुछ है।

लखनवी तहजीब की शोहरत अपने देश में ही नहीं सागरों के पार दूर देशों में भी है। वीरवर लक्ष्मण की इस नगरी को ऋषि मुनियों ने अपना साधना स्थल बनाया। बुद्ध का सन्देश भी इस धरती की रज में समाया हुआ है। फिर लखनावती को भरों, प्रतिहारों ने अपना देवस्थान बनाकर संवारा और उसके बाद आया शेखजादों का जमाना। नवाबी दौर में तो लखनऊ का सितारा सातवें आस्मान पर था। उन नवाबों ने भी इस मिट्टी के इश्क में गिरफ्तार होकर इसी मिट्टी को गले से लगा लिया। यूरोप से क्लाड मार्टिन आए, बटलर साहब आये और वो भी लखनऊ में लखनऊ के आशिक होकर रहे।

जिस तरह हमारे यहाँ त्योहारों पर पर्व कथाओं में चारों दिशाओं के वैभव को एक जगह समेट लेने की गरज़ से कहा जाता है "पूरब का हाथी, पश्चिम का घोड़ा, उत्तर का नीर और दक्खिन का मोती" ठीक उसी तरह लखनऊ में चारों तरफ़ की तहजीबें गले मिलती है और मज़ा ये कि इस संगम के बावजूद वो तमाम संस्कृतियाँ यहाँ अपने मूल रूप में कुछ न कुछ जिन्दा हैं।

लखनऊ की रहन–सहन, खान–पान, तर्जेलिबास, शेरो सुख़न शौक़ो शग़ल और जबान का रंग सारे जहाँ से निराला रहा है... क्या शान हुआ करती थी... वो जामे जोड़ें, अचकन चपकन, कुरतें अंगरखे, मजे–मजे की टोपियां कि बस... जनानखानों में ज़रवख्त के लहंगे और टुकड़ियों के पायजामें में कुर्ती महरम और कामदार टुपट्टेवालियां और उस पर मेंहदी, मिस्सी, दिलबहार झूमर, छपके, बालियां, गरज़ ये कि गहने पातों से पोर–पोर सजी। जो चीज थी वो गोटे बनत से लगी टंकी... और बिना लगे टंके तो हाथ के पंखे भी नहीं होते थे।

जी हाँ, लखनऊ की दस्तकारी का नाज़ो अन्दाज भी खूब रहा। यहाँ के चिकन काढ़ने वालों ने सफेद धागे लेकर मुर्री और हथकटी के बूटों से मलमल के कुर्ते पर ऐसी फूलों की माला काढ़ कर रख दी कि शाहे फारस के दरबारी, अवध के राजदूत के गले में पड़े उसजूही के ताजा हार को हाथ से छू लेने के लिए आमादा हो गये

थे। कारचौबी का काम करने वाले लाल मखमल पर सलमे मोती का ऐसा गुलूबन्द बना देते थे कि देखने वाले उसे सोने का जेवर समझते थे।

और तो और यहाँ के मैदान फतह जवां मर्द असील मुर्ग़ों से हरम की बेगमें परदा करने पर मजबूर हो जाया करती थीं... फिर कहाँ मिलेगा दुनिया के परदे में ऐसा शहर...।

लखनऊ का चिकन जरी और जामदानी, मीना कुन्दनके गहने और चाँदी के हवायी वरक, सात समन्दर पार तक बिकने जाया करते थे। लखनऊ की मुश्की तम्बाकू, हिंना, केवड़ा, पतंगें, ताज़िए और कागज़ी गुलदस्तों की दूर–दूर तक धूम थी। यहाँ के बावरची अपने हाथ के बनाये शीरमाल, कुल्चे नहारी या कबाबों के लिए बहुत मशहूर हुए है। लखनऊ की खासुल खास दसहरी विदेशों की शानदार दावतों का प्रमुख आकर्षण बनती आयी है। यहाँ अमीर उमरावों की दीवानख़ाने महकदार फर्शी हुक्कों से आरास्ता थे, तो जनानख़ानों में पानदान की बहार थी जहाँ किस्म–किस्म की गिलौरियां बनती थी और फिर उनकी लज्ज़त का जबाव ही क्या।

लखनऊ के फेरीवालों की जादूभरी पुकारें भी दो टके की चीज को लाख टके का माल बनाती रही हैं। यहाँ के बुजुर्गों की दास्तानें, बाँकों की लफ्फ़ाज़ी और औरतों की रेख्ती अपने आप में एक ज़बानी साहित्य हुआ करती है जिसे सुनने के लिये सारे ज़माने के कान बेताब रहते हैं।

लखनवी तहजीब की एक तारीफ ये भी है कि इसके पैरों में सिर्फ पाज़ेब की झनकार ही नहीं, इसके हाथों में हिफाज़त की तलवार भी रही है। इस शहर से उमराव जान उभरी थीं तो हजरत महल भी इसी सरजमीन पर उठी थीं। ये नगर अगर तबला, कत्थक और ठुमरी का घराना रहा है तो सत्तावनी क्रान्ति ने इस शहर का नाम इतिहास में सुनहरे अक्षरों से लिख डाला है।

□□

लखनऊ की गगन रेखा

अवध में बादशाहत के ज़माने में मिस ईडेन तथा मिस फैनी पार्क्स शाही मेहमान की हैसियत से लखनऊ आयी थीं। इनमें से एक ने बादशाह के महलों (शाही इमारतों) की जी भर कर सराहना की थी तो दूसरी ने बादशाह के महलात (बेगमों) की दिल खोल कर तारीफें की थीं।

लखनऊ के बाग़ों और महलों की गिनती कुछ इतनी अधिक थी कि सन् 1824–25 में बिशप हेबर साहब ने लखनऊ की दिलकश गगन रेखा को देखकर कहा था "लखनऊ हमारे ड्रेसडन शहर की तरह खूबसूरत है, यहां के लोग बड़े शिष्ट और बड़ें अच्छे स्वभाव के आदमी हैं।"

इन सभी बातों में लखनऊ की शानदार इमारतों का वो जिक्र छिपा है, जिसे यहां के अनगिनत गुम्बद, जममगाते छत्र, खूबसूरत कंगूरे और ऊँची–ऊँची मीनारों ने आसमान के वरक़ पर लिख दिया था।

लखनऊ की इस गगन रेखा की बहार को अंग्रेजी हुकूमत ने भी बरकरार रखा था। इसका मतलब यह हुआ कि शमए लखनऊ पर जल मरने वाले सिर्फ देसी पतंगे ही नहीं थे, कुछ परदेसी भी थे और जो सात समन्दर पार से आए थे। आइए, लखनऊ की क़द्र करने वाले अंग्रेज मेहमानों और ब्रिटिश साम्राज्य के योगदान को भी एक निगाह देखें ताकि हम अपने नगर के रखरखाव के सन्दर्भ में कुछ सबक ले सकें।

नवाबी काल में नवाब आसफुद्दौला के दोस्त और दरबारी जनरल क्लाड मार्टिन ने इस शहर में तमाम कोठियां बनवायी थीं जो वेस्टर्न स्टाइल में होने के कारण नगर के स्थापत्य से मेल नहीं खाती थी, फिर भी सन् 1795 में उनका किले जैसा "ला–कांस्टेशिया" बनकर तैयार हुआ जिसे "मारकीन साहब की कोठी" कह कर

पुकारा जाता था और इसमें सन्देह नहीं कि यह आलीशान इमारत आज भी लखनऊ के गले का गहना है।

अवध में जब फिरंगियों की हुकूमत हुई तो उन्होंने भी लखनऊ की वास्तु–परम्परा को जीवित रखने की कोशिश की और इस नगर को उन्होंने तमाम भव्य भवन उपहार में दिये। इस सन्दर्भ में उन्होंने नवाब सआदत अली खां की ग़ल्ती को नहीं दोहराया जिन्होंने शहर में अंग्रेज़ी तर्ज़ की कोठियों और सादे मकानों की भीड़ लगा दी थी। ब्रिटिश युग में जितनी भी इमारतें बनवाई गई या बाग लगवाये गये सब में लखनऊ स्थापत्य की नज़ाकत का ध्यान रखा गया और इस तरह गदर में तबाह हुआ लखनऊ फिर निखरने लगा था।

कैसरबाग का विकास :

सन् 1864 में अवध के ताल्लुकेदारों ने लार्ड कैनिंग की स्मृति में अमीनाबाद में कैनिंग कालेज खोला था। सन् 1867 में सरजान लारेंस ने कैसरबाग में इस विद्यालय के लिए "परीखाने" के खण्डहरों को हटा कर जो एक महलनुमा इमारत तैयार कर डाली थी उस में पहले कौंसिल हाउस था फिर उसी में कैनिंग कालेज चलता रहा, बाद में उसी बिल्डिग में मैरिस म्यूजिक कालेज चलने लगा और आज वहां भातखण्डें संगीत महाविद्यालय का आफ़िस रायउमानाथ बली प्रेक्षागृह, लोक कला सग्रहालय तथा जयशंकर प्रसाद सभागार है। कैसरबाग में ही शानदार अमीरुदौला लाइब्रेरी का भवन, गोल चौराहा और बिशाल मैरिस मार्केट बनी।

सर जान लारेंस ने ही सन् 1881 में नारमन.टी. हार्स फोर्ड के प्रस्ताव पर हुसेनाबाद ट्रस्ट की लागत से एक 221 फुट ऊंचा और 20 स्क्वायर फुट चौड़ें टावर का निर्माण किया गया जिसका डिज़ाइन कलकत्ता के श्री आर.वाइन ने तैयार किया था। लाल ईट की मनमोहक चुनायी से लगभग बरतानवी स्टाइल में निर्मित इस

की मनमोहक चुनायी से लगभग बरतानवी स्टाइल में निर्मित इस घड़ी मीनार पर सुनहरे गुम्बद की सजावट की गयी, ताकि लखनऊ की गगन–रेखा को कोई ठेस न पहुंचे। हुसैनाबाद घण्टा घर का शीर्ष बिल्कुल ताजिए जैसा बनाया गया है। एक लाख सत्रह हजार रुपये की लागत से बना हुआ यह क्लाक टावर भारत भर में सबसे ऊंचा और शानदार घण्टा घर है।

लखनऊ विश्वविद्यालय (कैनिंग कालेज भवन) :

लखनऊ के बादशाह बाग में 31 मार्च सन् 1909 को यूनाइटेड प्राविन्सेज आगरा और अवध के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर जॉन प्रेस्काट हेवेट ने कैनिंग कालेज के नये भवन की नींव का पत्थर रखा। सर स्विन्टन जैकब साहब ने बटलर साहब की प्रेरणा से इस इमारत का बड़ा आकर्षक नमूना तैयार किया। लखनऊ नगर के वातावरण और रमणीकता को ध्यान में रखतें हुए इन इमारतों की रूपरेखा अवध वास्तु विधा में बनायी गयी थी। 17 फरवरी सन् 1911 को कैंनिग कालेज के भव्य भवन का उद्‌घाटन हुआ। इसके बाद विश्वविद्यालय के लिए जितनी भी इमारतें बनीं, वे सब अवध के महलों से मेल–मिलाप रखती हैं। क्रिश्चियन कालेज के भवनों के गुम्बद भी गोलागंज और वज़ीरगंज के ऐतिहासिक इलाकों का ऐलान करते है।

लखनऊ मेडिकल कालेज :

सन् 1905 में प्रिस ऑफ वेल्स साहब मेरी प्रिन्स ऑफ वेल्स के साथ लखनऊ आये थे। उन्होंने ही 27 दिसम्बर 1906 को किंग जार्ज अस्पताल की नींव रख दी। इस अस्पताल के लिए लखनऊ के शैखजादों के पुराने मच्छी भवन किले के खण्डहरों और उनके आस–पास की नीम वाली बगिया को चुना गया। इस जायदाद को सर हेनरी लारेंस ने अपने जीवन काल में ही 50 हज़ार रुपये में नवाब यहिया अली खां से खरीद लिया था।

27 जनवरी 1912 को सर जान प्रेंस्कॉट हीवेट साहब ने इस

आलीशान अस्पताल का विधिवत उद्घाटन किया। आसफुद्दौला के शाही इमामबाड़ें के निकट बनाये जाने वाले इस हास्पिटल का भवन विन्यास भी सर जैकब ने तैयार किया था। लखनऊ भवन निर्माण कला के उस सच्चे प्रेमी ने "पंचमहल" और "मुबारक महल" की याद को उसी ज़मीन पर जैसे फिर से ताजा कर दिया। सबसे पहले 18 लाख रुपये की लागत से एडमिनिस्ट्रेटिव ब्लाक की महलनुमा सुन्दर इमारत बन कर तैयार हुई। उसके बाद एनाटमी, पैथालोजी तथा फिजियोलोजी के ब्लाक बने। एक मेडिकों लीगल विभाग और एक वाह्यरोगी विभाग भी राजस्थानी शैली की छतरियों के साथ तैयार किया गया। चौक के नजदीक बनवायी गई इन बेहतरीन इमारतों के वास्तुकार सर जैकब साहब का लखनऊ सदा आभारी रहेगा, जिन्होंने लखनऊ की गगन रेखा को नये आयामों से भी भरपूर प्रतिष्ठा दी थी।

हार्डिंग्ज ब्रिज :–

सन् 1911 में ब्रिटिश हुक्मरानों ने किला मच्छी भवन और हुस्न बाग के बीच बने हुए शाही पुल को तुड़वा दिया। नवाब शुजाउद्दौला के शासन काल में निर्मित तथा राजा नवलराय द्वारा बनवाया गया वह पुल स्वतंत्रता संग्राम के प्रथम युद्ध में काफ़ी कमजोर हो चुका था। यह पुराना पुल पेरिस में सीन नदी पर बने हुए पुल की हूबहू नक़ल था।

पुराने पुल के पश्चिम में कुछ ही दूरी पर एक नया पुल बनवाया गया जिसका उद्घाटन 10 जनवरी 1914 को लार्ड हार्डिंग्ज साहब ने किया। लखनऊ की पुरानी बस्तियों को दरिया पर जोड़ने वाला गोमती नदी का यह पुल शहर की शान है। इस मज़बूत पुल का स्थापत्य इतना सुरुचिपूर्ण है कि बस देखने से वास्ता रखता है और आज भी सारे हिन्दुस्तान के सबसे खूबसूरत पुलों में इसकी गणना की जाती है।

चारबाग़ स्टेशन का भव्य भवन :

मुहम्मद बाग़ और मुनव्वरबाग के बीच लखनऊ में एक चौपड़

पर बने चार महलों और चारबागों के हकदार कुछ नवाबों को मौलवींगंज में पुरानी इमली का इलाका मुआवजे में देकर इस इलाके में रेल लाइन बिछा दी गई थी। यहीं पर 21 मार्च 1914 को बिशप साहब ने रेलवे स्टेशन चारबाग की नींव डाल दी। इस से पहले ऐशबाग़ का रेलवे स्टेशन ही था जहां कानपुर से छोटी लाइन आती थी।

लखनऊ का चारबाग़ स्टेशन अपने राजपूती स्टाइल और मनोहर प्रभाव से लखनऊ में आज भी चार चांद लगा रहा है। इस इमारत का सुदृढ़ वास्तु–विन्यास और सुन्दर अनुपात इसे नगर का गौरव बनाये हुए है। इसके अतिरिक्त इस भवन में इंजीनियरिंग कौशल की दो विशेषताएं और भी हैं। एक तो यह कि विहंगम दृश्य में इस इमारत के छोटे–बड़ें छतरीदार गुम्बद मिलकर शतरंज की बिछी हुई बाजी का सा नमूना पेश करते हैं, दूसरे चाहे जितने शोर और आवाज के साथ कोई ट्रेन प्लेटफार्म पर क्यों न आए, स्टेशन की इमारत के बाहर उसकी कोई आवाज़ नहीं आती। और मजे की बात यह है कि इन दोनों खूबियों में लखनऊ के शौक़ और तहज़ीब–नवाज़ी की परछाइयां हैं।

कौंसिल हाउस :

सर हॉर कोर्ट बटलर के प्रयास से ही लखनऊ को संयुक्तप्रान्त आगरा और अवध की राजधानी बनाया गया और फिर कौंसिल के लिये मिर्जापुरी पत्थर से कौंसिल भवन बना। 18 लाख रु. की लागत से बनकर यह आलीशान इमारत सन् 1928 में तैयार हुई। यूनानी देवी–देवताओं की तरह पशु प्रतिभा से सजे, तरह–तरह के आयुधों से मंड़ित द्वार तोरण वाले तथा विशाल गुम्बद और ऊँची छतरी वाले इस भवन की शान ही निराली है। आज इसी इमारत में उत्तर प्रदेश सरकार की विधान सभा होती है और अब विधान सभाभवन ही कहलाता है।

इसी तरह चौक चौराहा, विक्टोरिया मेमोरियल की संगमरमर की छतरी (वर्तमान में हज़रत महल स्मारक), बड़ें डाकख़ाने की जी. पी.ओ. और पी.एम.जी. आफ़िस आदि की इमारतें भी समय–समय पर सुरुचिपूर्ण ढंग से बनवायी गई। भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा शासन करने वाली मलका विक्टोरिया जनवरी १९०१ में दिवंगत हुई थी। कम्पनी सरकार ने मलका की यादगार के लिए लखनऊ में सितम्बर १९०४ में विक्टोरिया मेमोरियल की आधारशिला, नील गेट के सामने रखी थी। इस सुन्दर संगमरमरी स्मारक का डिजाइन सर जैकब ने तय्यार किया था जिसमें अत्यन्त महंगी (रु. 41502 की) मलिका की धवल प्रतिमा लगायी गयी थी। 2 अप्रैल 1908 को प्रतिमा का अनावरण किया गया जिसके लिए गोमती किनारे से 21 तोपों की सलामी दी गयी थी। इनके अतिरिक्त उसी काल में नवाबी की तमाम इमारतों की मरम्मत उसी तर्ज़ से की गयी जिनमें छतरमंजिल, नगीने वाली बारादरी, मोती महल, जामा मस्जिद, हुसैनाबाद बारादरी, गोल दरवाज़ा, तारेवाली कोठी, खुर्शीद मंजिल और कोठी हयात बख़्श का नाम उल्लेखनीय है। आज लखनऊ जो कुछ भी है और जिस अन्दाज में हमारे सामने है, वास्तव में पिछले दौर के रखरखाव की बदौलत है, जिससे हम इनकार नहीं कर सकते।

□□

पहला–पहला शहर

इतिहास होता है विगत वृतान्त का सच्चा ब्योरा। अगर लिखा गया, सुना गया इतिहास उसका बहिर्साक्ष्य है तो पुरातत्व ही उसका अन्तर्साक्ष्य माना जाता है। इसलिए कोई भी क़लई लगाकर जब किसी इतिहास को लिखा जाता है तो वो कलई आगे चलकर खुदब–खुद खुल जाती है और ऐसे इतिहासकारों को फिर माफ़ नहीं किया जा सकता। इतिहास खण्डहरों से बोलेगा, ज़मीन से बोलेगा, कहीं न कहीं कल नज़र जरूर आयेगा। क्योंकि कहावत है कि कितना ही होशियार क़ातिल क्यों न हो अपनी पकड़ के सबूत तो वो खुद ही छोड़ जाता है।

उसी तरह इतिहास के चिन्ह किसी न किसी पर्त से आपको झांकते हुए मिलते हैं और मिलते ही रहेगें, ये प्रमाण होते हैं मूर्ति विग्रह, मृद भाण्ड, मोती मनके, सिक्के मुहरें, तोरण महराबे और छोटी बड़ी ईटे यहां तक कि धरती, नदिया, वनस्पति और परम्परायें तक इतिहास का साक्षी बनती है।

अवध और विशेषकर लखनऊ का इतिहास भी ऐसी ही बुनियादों पर बाक़ायदा कायम है, रामायण कालीन लखनऊ पौराणिक अख्यानों और भूगोल से भलीभांति प्रमाणित है। ये लक्ष्मण की नगरी उसी गोमती तट पर बसी है जिसके लिए आप पढ़ते है या सुनते हैं।

महाभारत काल से उत्तर कोसल के विख्यात बनों का उल्लेख मिलता है और अवध का अधिकांश भूभाग कोसल प्रदेश के आधीन रहा भी है। ऐसा प्रमाणित है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भगवान बुद्ध के समय में ये भूखण्ड कोसल राज में सम्मिलित था।

अवध का पुरातत्व कितना सम्पन्न और रहस्यपूर्ण है ये दिनों दिन विदित होता जा रहा है। उस सिलसिले में केवल लखनऊ जनपद का ही उदाहरण ले तो यहां कुषाण कालीन मूर्तियां, हुलासखेड़ा,

और भटपार टिकरिया में मिलती है तो गुप्तकालीन मूर्तियां और प्रस्तर खण्ड उनई गांव तथा मलिहाबाद के बाराखम्भा से बरामद हुये है। इन दोनों ही कालों की ईटे लखनऊ नगर के दो जलकूपों में मिल चुकी है। मोहान तथा मोहनलाल गंज से विग्रह पाल, गुर्जर प्रतिहार, राजा मिहिर भोज, विनायक पाल देव, तथा गोविन्द चन्द्र के सिक्के मिले है और मौखरी राजाओं की मुद्राएं भी कुछ विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई है।

यहां पुराने समय में हिन्दू धर्म की बैष्णव परम्परा का प्रभाव प्रमाणित होता है लखनऊ जनपद में अरम्बा से प्राप्त विष्णु मूर्ति से। इसी तरह शाक्तों की आस्था उनई की कात्यायिनी मूर्ति से विदित होती है। शैवों की उपासना पद्धति दिलबंसी के शिवलिंग से प्रकट होती है तो बौद्ध जैन संस्कृति के भी यहां विकसित प्रमाण अच्छी तरह प्राप्त है ओर ये सारी सामग्री 10वीं सदी के पूर्व की है। ये पूजागृह और प्राचीन प्रमाण तो समय के साथ विदेशी आक्रमणों से प्रभावित होकर काल कवलित हो गये किसी काया की तरह लेकिन उन की आत्मा भला कैसे मिट सकती है। इस सिलसिले में मै लखनऊ के ही कुछ दिलचस्प उदाहरणों का जिक्र करना चाहूँगा नमूने के तौर पर नगर में नई सड़क के किनारे लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व जब एक स्वंय भू शिवलिंग प्राप्त हुआ तो उसे वैसे का वैसे भूतल के नीचे स्थापित रहने दिया गया और "सिद्धनाथ' के नाम से उनकी पूजा प्रतिष्ठा होने लगी। ये सच है कि जब कुछ सामने नजर आता है तो इससे इतना तो मालूम ही हो जाता है कि कहीं कुछ था जरूर। इतिहास के लिये इतनी सी बात बहुत बड़ी बात बन जाती है समय के हाथों सभ्यता के भवन और वास्तु मिटते चले गये लेकिन उस सभ्यता की पहचान कभी नहीं मिट पाती है।

पूर्व इतिहास के स्थूल प्रमाण न मिलने के कारण उनकी प्रमाणिकता अक्सर संदिग्ध मानी जाती है क्योंकि वो मंदिर तथा वो प्रासाद पहले ही मिट चुके हैं। लेकिन नये इतिहास के ताजे नमूने भी किसी कदर मिट चुके हैं या मिटते जा रहे हैं कि कल उनके बारे

में कुछ कहने से लोग कतराने लगेंगे। क्यों न इस पर भी हम कुछ गौर कर लें कि हमारा ताजा इतिहास कितनी जल्दी हमारी नजरों से ओझल हुआ जा रहा है।

12वीं सदी में जब सैयद सालार मसूद गाजी इधर से धर्मयुद्ध करते हुये बालार्क (बहराइच) की ओर गये तो यहां गंज शहीदा में पहला मुस्लिम कब्रस्तान बना और लखनऊ की पहली क़ब्र बनी सोबतिया बाग में लेकिन अब न वो, कब्र है और न वो क़ब्रिस्तान।

सन् 1351 में फीरोजशाह तुगलक के समय में लखनऊ में पहली मुस्लिम बस्ती बसायी गयी थी। ये शेख नसरूद्दीन अवधी थे जिन्होंने यहां अपना पहला छप्पर नीम के नीचे डाला था। एक जमाना था कि उनका घर शेखों में "मुकद्दस ड्योढ़ी" जाना जाता था। क्योंकि ये इस शुयुख़ नबहरा का आस्ताना–ए–अव्वल था, लेकिन आज न उनका वो मकान है और न वो नबहरे की बस्ती बाक़ी है। उसकी जगह ठठेरी टोला आबाद हो गया।

शेखजादों का पहला बाग़ था मुबारक बाग़ जिसका नाम भी अब कोई लखनऊ के तमाम बाग़ों में नहीं लेता है और क़िला था मच्छी भवन, जिसमें कुछ नहीं बचा है और न उस क़िले का कोई सिलसिला। लखनऊ का पहला माही मरातिब अर्थात मछलियों के निशान का वो मुबारक जोड़ा भी उसी मच्छी भवन पर बना था इसलिए वो पुरानी मछलिंया भी नहीं रहीं।

लखनऊ में पहली मस्जिद "ठठेरी टोले" में बनवाई गई थीं। उस मस्जिद का अब कोई नाम निशान बाकी नहीं है सिवा इसके कि उसके अलावा एक मस्जिद शाह अब्दुर्रहमान के आस्ताने के साथ नयी बनी हुई वहीं मिलती है। इसी तरह लखनऊ में मुगल शासन काल का जो पहला दरवाजा बना था वो दिल्ली दरवाज़ा था और वो अब कहने को भी नहीं रह गया है।

इस शहर में फिरंगियों की पहली कोठी फ्रांसीसियों की नील कोठी थी जो जब मौजूद नहीं है। इसी तरह यहां ईसाईयों का पहला गिरजा घर खुदा बख्श का गिरजा घर था जो कब का मिट्टी में मिल चुका है।

लखनऊ में पहली मुस्लिम ज़ियारत गाह पुराना 'कदम रसूल' थी जिसे अलकूताश खांन ने सन् 1630 में बनवाया था। ख़ाला बाजार और नौबस्ता के बीच स्थित ये कदम रसूल अब लगभग खत्म हो चुका है। लखनऊ में शेरशाह सूरी की टकसाल का पहला सिक्का जर्ब लखनऊ था जो अब किसी संग्रहालय में भी दुर्लभ है।

लखनऊ को इमामबाड़ों का शहर कहा जाता है यहां का पहला इमामबाड़ा अबू तालिब का इमामबाड़ा था जिसे नवाब सफदर जंग के शासन काल में बनवाया गया था। अबू तालिब खां बड़ें विद्वान थे और पहले सफीर थे जो यहां से विलायत तक गये थे और मेम लाए थे इसलिए मीर लन्दनी कहे जाते थे। मीर लन्दनी का अहाता फूलबाग हुसैनगंज में था इमामबाड़ा भी वहीं रहा होगा लेकिन अब उसकी एक ईट भी ढूढें से नहीं मिलेगी।

इमामिया मज़हब की जो पहली दरगाह थीं 'दरगाहें दो वज्दा' वो भी अब शहर से गायब हो चुकी है और उसकी जगह कैसरबाग टेलिफ़ोन एक्स्चेंज है। अवध के शासकों में "आसफद्दौला ने जो अपना मकान शीशमहल में" दरिया किनारे शुरू–शुरू में बनवाया था आज न वो मकान है और न उनकी बनवायी हुई शहर की वो पहली बारादरी है जो कि ऐशबाग में थी।

गोमती नदी का पहला पुल जो नवाबी शासन काल में राजा नवलराय की निगरानी में बनवाया गया था वो शाही पुल गोमती पर से जाने कब का गायब हो चुका है। लखनऊ की पहली शानदार बाजारें कैप्टन बाजार और चाइना बाजार थी जो अब कहीं ढूंढे नहीं मिलती। अंग्रेजी दौर में इस शहर का पहला चायखाना मीर मुहम्मद हुसैन साहब ने खोला था लेकिन लखनऊ वाले शायद इस शै को तब

मुंह नहीं लगाते थे इसलिए वो चायख़ाना चल नहीं सका। हमारे शहर में पहली–पहली डबलरोटी की दुकान नवाब आग़ा अली हसन खां ने घसियारी मण्डी में खोली थी डबलरोटी अब आपकी सारे शहर में मिलेगी लेकिन वो दूकान कहीं नहीं मिलेगी। कूचए मीर जान के नवाबज़ादे और उनका फोटो स्टूडियों लापता है। लखनऊ की पहली रंगशाला "दिलाराम की बारादरी" कही जा सकती है जो चौपटिया के करीब थी, लेकिन अब उसका कोई पता नहीं है। लखनऊ का पहला टाउनहाल राजाबाज़ार में राजा टिकैतराय का दीवान खाना था, लेकिन अब वो नाम को भी नहीं रहा। ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजों ने हज़रतगंज में "रिंगथियेटर" बनवाया जो इस शहर का पहला सिनेमा हाल था वो भी अब बाकी नहीं है और आज उसी की जमीन पर जी.पी.ओ. की इमारत खड़ी है। गोलागंज का "तमाशाघर" जहां कभी आगा हश्र कश्मीरी के मशहूर ड्रामें हुआ करते थे अब बाकी नहीं है। अब तो उस जगह बुलन्दबाग की बस्ती आबाद है।

मजे की बात ये है कि बादशाह गाजीउद्दीन हैदर के अहद में इसशहर में जिस शख्स ने सबसे पहले ऐनक पहनी थी उसे ऐनक बाज कहकर पुकारा गया था। इस ऐनक बाज़ की कोठी बड़ी मशहूर थीं। ये अजब इत्तफाक है कि ऐनकबाज की वो कोठी ठीक इसी जगह थी जहां अब हिन्दी संस्थान का भवन है।

□□

मिट्टी की महक

लखनऊ शहर रहस्यमय टीलों पर बसा हुआ है जिसके कारण यहां तमाम ढालें और चढ़ाइयां मिलती हैं। यहां रेलवे लाइन अगर आग़ामीर ड्योढ़ी पर ओवर ब्रिज से और रकाबगंज में अण्डर ब्रिज से गुज़रती है तो बिरहाने पर लेविल क्रासिंग से गुज़रती है।

टीलों के पहरे

लखनऊ का लक्ष्मण टीला इस नगर की प्राचीन सभयता का केन्द्र बिन्दु है जो जनपद के सात प्रमाणित पुराने टीलों से घिरा हुआ है। ये मिट्टी के टीले हैं दादूपुर का टीला, कलेसरी (हुलास खेड़ा) का टीला, मुहम्मदी का टीला, जिन्दौर का टीला, दिलबंसी का टीला, सराय शेख का टीला और बाना का टीला। इन सबके सीने से मौर्यकाल, कृषाण काल तथा गुप्तकाल की विभिन्न सामग्री निकलती रहती है। ईसा पूर्व के पुरातत्विक अवशेषों द्वारा उत्तर वैदिक काल तथा बौद्ध युग का इतिहास़ भी अस्फुट स्वरों में प्रकट हो चुका है। लखनऊ नगर में भी जो छोटे–छोटे प्रसिद्ध टीले है उनके पीछे भी बड़ा विस्ययकारी इतिहास छिपा पड़ा है इस संदर्भ में टीला पीर जलील, बड़ी काली की मचान, बुद्धेसुरन का टीला और काले पहाड़ का नाम लिया जा सकता है।

लखनऊ की लखौड़ियां

अवध के दक्षिणी सरहद पर गंगा बहती है और पत्थरों का देश तो उसके भी नीचे जमुना पार है चाहे वो कालपी का किनारा हो या शंकरगढ़ की पहाड़ियां। लखनऊ की इमारतों में अगर कहीं पत्थरों का थोड़ा बहुत इस्तेमाल है तो वो पत्थर ऊंट खच्चरों की पीठ पर विन्ध्याचल के मिर्जापुर अंचल से लाए गए हैं। गरज ये कि लखनऊ से पत्थरों की दुनिया हमेशा दूर रही और यहां जो इमारतें बनी उनमें

लखनऊ की मिट्टी का भरपूर इस्तेमाल होता रहा।

नाग सभ्यता का धरागृहों से बड़ा धनिष्ठ सम्बन्ध है और वो मिट्टी के आवास बनाने में विशेष निपुणता रखते थे। भारशिवों की गढ़ियां और राजा बिजली के कच्चे किले इस जनपद में विखरे हुए थे। शेखजादों ने हरी नीम (नबहरा) में अपने कच्चे घरों की बस्ती आबाद की थी और नवाबों ने भी फूस के कुछ कच्चे बंगले बनवाए थे। आज भी लखनऊ के मौलबीगंज इलाके के पास कच्चा हाता नाम का मुहल्ला है।

लखनऊ और लखौड़ी में भी बड़ा भावभीना सम्बन्ध है। ये लखौड़ियां लखनऊ की मिट्टी के खूबसूरत नमूने हैं जो अलग–अलग आकारों में ढलती रहीं। और फिर पानपत्ता, अल्मास, आसफ़ी या नगीना नाम से पुकारी गई। लखौड़िया आयताकार तो बनती ही थीं जरूरत के अनुसार वर्गाकार गोल य दूसरे डिजाइनों में भी बनवायी जाती थीं।

मिट्टी के इस्तेमाल का एक दस्तूर फर्श की शतरंजी (टाइल्स) बनाने का भी था। नवाबी दौर में गुलाब कुम्हार का पूरा खानदान चमकदार रंगीन चौके बनाने और जालीदार रंगीन कंगूरे बनाने में लगा हुआ था इस तरह के टाइल्स मलका आफाक की कर्बला में और हरी जालियां मुगल साहिबा के इमामबाड़े में या कप्तान के मकबरे में देखी जा सकती हैं।

अस्तरकारी के फूल

लखनऊ की इमारतों का स्टूकों वर्क प्रसिद्ध है। इमारतों की सजावट में चूने गारे को उभारकर तरह–तरह के बेलबूटे बनाए जाते थे। पत्थर पर नक्कशी के नमूने दिखाना यहां अधिक सभंव नहीं था इसलिए अस्तर कारी या गचकारी से ही कलापूर्ण सज्जा करने का रिवाज बन गया। महराबों की धार संवारकर उनके ऊपर बेलें और

गुलदस्ते बनाए जाते थे। खिड़की दरवाजों पर बेस्टर्न स्टाइल की पाइपिंग देना, कार्निसें या कमान बनाने, बन्द दरवाजों, खिड़कियों या छतगिरी की झालर का शुबहा देने का काम इसी कला का कमाल था और ये सब महज़ मिट्टी का एक हुनर था। लखनऊ में अस्तरकारी का सबसे दर्शनीय काम मुगल साहिबा के इमामबाड़े में बना हुआ है जिसके बेशुमार बेल बूटे सदियों से लखनऊ चिकन की प्रेरणा रहे हैं। इसके अलावा मलका जहां की मस्जिद, सिकन्दरबाग फाटक पर भी अस्तरकारी की कुछ बेले अब भी ठीक हाल में बाकी है। मलिहाबाद के आस पास राजा टिकैतराय के मन्दिरों पर भी देवी–देवताओं तथा उनके परिवार के सुन्दर शिल्प देखें गये है।

बर्तन और खिलौने

लखनऊ के पुराने टीलों में टेराकोटा (मृण्मूतियां) और मृदभाण्ड सदा से प्राप्त होते रहे हैं। काले और लाल चमकदार बर्तन सूरजकूण्ड के करीब लगने वाले कार्तिक मेले में आज भी उसी तरह बड़ी तादाद में बिकते है जैसा कि यहां की पुरानी परम्परा में मिलता है। बर्तन बनाने की कला को कालान्तर में मुसलमान कुम्हारों ने अपना लिया क्योंकि मूर्तिकला को वे अपने विश्वास से नहीं पा सकते थे। इन लोगों को क़सगर कहा जाता था और ये दिल्ली खानदान के लोग थे। मिट्टी के घड़े सुराहियां, झज्झर, बंधने, आबखोरे, मटके, फूलदान, नमकदानियाँ, तश्तरियां, रकाबियां और हुक्के की फर्शी आज भी उसी रफ्तार से लखनऊ जनपद में बनायी जाती है।

हिन्दू कारीगरों ने लखनऊ में मिट्टी के खिलौने बनाने में जो सिद्धि और प्रसिद्धि पायी उसका कहना ही क्या। इन खिलौनों में जान फूंक देने के लिए अगर कलाकार के हाथों का जादू जिम्मेदार है तो लखनऊ की नफ़ीस मिट्टी का भी उसमें बड़ा हाथ है। लखनऊ की मिट्टी में वो लाजवाब लचक है कि इसमें बारीक से बारीक काम दिखाया जा सकता है। चिकनी मिट्टी की ये खानें

ठाकुरगंज के करीब से काकोरी तक थी और उनकी बराबर खुदाई होने से वहां सड़कों के नजदीक दोनों तरफफ खाइयां बन गई थी।

देवी–देवताओं की सुन्दर कलात्मक प्रतिमाएं यहां प्राचीन काल से बनायी जाती थीं और आज भी दीवाली के मौके पर उनकी बहार देखी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस तरह के छोटे आकार में आकर्षक देव विग्रह हमारे देश तो क्या सारे विश्व में कहीं प्राप्त नहीं हो सकते। यहां दीवाली मेले में बिकने वाले विशिष्ट हाथी, घोड़े बिना सांचे के हाथ से गढ़े जाते है और उन सब में अद्वितीय होती है, ज्योतिपात्र लिए हुए गुजरिया जो मोहनजोदड़ों से प्राप्त दीप–श्री से अद्‌भुत साम्य रखती है। ये सभी विषय हमारे देश में प्राचीनतम टेराकोटा की अनवरत परम्परा का प्रतीक है।

कन्नौज के संयोगिता स्वयंवर में महल द्वार पर रखी गयी पृथ्वीराज की मूर्ति यहीं से बनकर गई थी आधे अंगुल से लेकर आदमकद तक के खिलौने यहां की मिट्‌टी से बनाये जाते है। चिड़ियों, फलों, सब्जी, मेवा या फिर तरह–तरह के लोगों को उनकी वेशभूषा में बहुत छोटे आकर में प्रस्तुत कर देना यहां की विशेषता है और ये नमूने ही विदेशों में विख्यात हुए है। बड़ें आकार की मूर्तियों में यहां के पुश्तैनी कारीगरों का ये दावा है कि चीन के बादशाह को भेजी गयी शाहे अवध की एक प्रतिमा का जिक्र भी मिलता है। जिसके सामने से परदा हटाने पर वहां के बादशाह सम्मान में उठ कर खड़े हो गये थे। लखनऊ की ही शाही इमारतों और कोठियों की मसनवी बनाकर रख देने में यहां के कारीगर माहिर रहे हैं। मुहर्रम के जमाने में यहां मिट्‌टी के ताजिए भी बनाये जाते थे। पहले चौपटियां के क़रीब एक बुड्ढा बना कर बिठाया जाता था कि उसे देखने के लिए हजारों का हुजूम लगता था। उस सजीव लगने वाले दृश्य के लिए मेला जुड़ता था और वो बुड्ढे मेला का मेला कहा जाता था।

मिट्टी का मोह

जहां तक लखनऊ की मिट्टी से मोह की बात है लखनऊ के नवाबों ने इस मिट्टी से ऐसा नाता जोड़ा कि नजफ़ पाक की तमन्ना भी छोड़ दी। नवाब आसफुद्दौला ने लखनऊ की मिट्टी में सोना पसन्द किया तो ये परम्परा कायम हो गयी सिवा इसके कि नवाब वजीर अली को गुरबत के आलम में लखनऊ से दूर टीपू सुल्तान के किले में दफ्त होना पड़ा।

इसी तरह बादशाहों में जाने आलम भी लखनऊ के आशिक होने के बावजूद इस मिट्टी की चादर ओढ़ कर न सो सके और मजबूरी ने उन्हें मटियाबुर्ज कलकत्ते में दफ्न होने दिया लेकिन उनके दिल की तड़प में लखनऊ की मिट्टी की महक हमेशा बाकी रहीं।

मिट्टी की सौगात

लखनऊ की मिट्टी की एक तासीर ये भी है कि उसने यहां के आम, खरबूजों और फालसों में अपनी अलग मिठास और खुशबू भर दी है। लखनऊ के जो फल दूर–दूर तक अपनी पहचान कायम किये हुए हैं वो सबके सब वास्तव में यहाँ की मिट्टी के बेमिसाल तोहफें हैं। जनपद के पश्चिमी अंचल की धरती दशहरी और सफेदा आम की तमाम नस्लों के लिए प्रसिद्ध है तो उत्तर में गोमती की रेत लखनउवा सफ़ेदा खरबूजों की फसल उगलती है।

लखनऊ का दसहरी आम

अवध के गांव देहातों में ही नहीं शहरों कस्बों में भी गुलाबो सिताबो का रोचक कठपुतली खेल बहुत लोकप्रिय है। जिसमें ब्याहता और रखेल की नोंक झोंक, झगड़ें मिलाप के रोचक प्रसंग होते हैं इस तमाशे में तमाशगीर तरह–तरह के बोल बैन कहता है उनमें ही ये भी कहता है।

आम पाके, महुआ गदराय
छुटकी का पेट फूले, बड़की घबराय

आम पकने का एक ज़माना एक समय होता है और जिसका सबकों बड़ा इन्तजार रहता है। आम फल ही ऐसा है और आम का नाम ही बड़ा जायकेदार है। किसी उत्तम फल के तीन गुण होते हैं स्वाद, सुगन्ध और सद्गुण उस पर वो सुन्दर भी हो तो फिर कहना ही क्या। आम इस कसौटी पर खरा उतरता है। प्रकृति की ये सबसे मधुर भेंट है। लोक कथाओं में कहा जाता है कि जानकी जी अपने मायके मधुवन से ये श्रेष्ठ उपहार लायी थीं और दोनों बातों का अर्थ एक ही है। संस्कृत का सारा साहित्य आम्रकुंज, आम्रमजरियों के मनमोहक सौरभ से सुरभित हैं। यहीं नहीं हमारे लोक रंग में भी अमवा की डार पर ही भारतीय मन की कोयल कूकती है।

हिन्दुस्तान में आम की हज़ारों किस्में है। आज आम की दो किस्मों की बड़ी महिमा है बीजू या क़लमी। कहावत है कि वो कौन सा मेवा अर्थात स्वादिष्ट फल है जिसे आदमी उगल–उगल के चाटता रहता है और वो सिर्फ आम है।

दसहरी का नाम लेते ही मुंह एक स्वर्गिक स्वाद और सुन्दर सुगंध से भर जाता है। ये दसहरी जो आज संसार का सबसे लोकप्रिय आम है लखनऊ की ईजाद है या यूं कहें कि लखनऊ जनपद के दसहरी गांव की देन है। लखनऊ के पश्चिम में हरदोई मार्ग पर नगर से तेरह किलोमीटर दूर बांयी और अंधे की चौकी पड़ती है उसी ओर कुछ दूर पर काकोरी शहीद स्मारक है जो स्वाधीनता संग्राम के क्रान्तिकारी अभियान का पुनीत ऐतिहासिक स्थल है। यहीं उत्तर रेलवे की हावड़ा अमृतसर लाइन के उस पार डेढ़ किलों मीटर दूर बायीं तरफ दसहरी गांव बसा हुआ है। इस दसहरी गांव में ही वो सदियों पुराना पेड़ है जो दुनिया में दसहरी आम का पहला पेड़ माना जाता है। इस पेड़ के करीब ही महगा का शाही पुल बना हुआ है। जिसकी उतराई में आम के व्यापारियों को 5–5 आम अपनी टोकरी से देने होते थे। गांव के एक जानकार वयों वृद्ध स्वं, कालिका लोध के अनुसार एक बार झगड़ा हो जाने पर सारे सौदागरों

ने अपने–अपने आमों की टोकरियां उलट दी थी और उन से ही एक आम के बीज से ये दरख्त तैयार हो गया था।

दसहरी का ये पेड़ न बहुत छोटा है और न बहुंत बड़ा है लेकिन खूबसूरत और छतनार है। अब इसका फल पहले की तुलना में कुछ छोटा हो गया है फिर भी गुणों में वैसा ही है। दसहरी के लिए अलग–अलग दास्ताने हैं। लखनऊ के लोगों का कहना है कि नवाब आसफुद्दौला के शासन काल में बड़ें–बड़ें बागबानों की बराबर कोशिशें से कलम लगा कर ये आम इस इलाके में पैदा किया गया जिसमें कई आमों की खूबियों और खुशबू एक साथ गूंध दी गई थी इस काम के लिये फर्रूखाबाद, सहारनपुर और बिहार से आम के काश्तकार बुलाये गये थे कहा जाता है उनमें ही दसरथ नाम के एक किसान ने इस पेड़ को तैयार किया था और उसके ही नाम से ये पेड़ दसरथी कहा जाने लगा जो बाद में दसरही और फिर दसहरी हो गया।

नवाबों ने ही आम पहले पहल पंजतने पाक की नज़र में रखा। आम की सौगात जब कहीं भेजी जाती थी तो झाबे के ऊपर एक आम नज़र का रखा जाता था और सुनहरे रूपहले वरक में लिपटा होता था। आम बड़ी–बड़ी महफिलों में खास दावतों में बड़ी नफासत के साथ पेश किया जाता था। पहले आम की गर्मी निकाल देने के लिये ये फल चादर में बांधकर कुंए में लटका दिये जाते थे फिर मिट्टी के नांद में पानी में डाले जाते थे अब नये–नये तरीकों से आम ठण्डें किये जाते हैं।

आम मीठे फल के अलावा कच्चे आम, कली खटाई, अमचूर, अचार और अमरस की सूरत में सालों साल इस्तेमाल होता है अवध के आम लोगों में कहावत है।

दाल अरहर की, खटाई आम की
तोले भर घी, रसोई राम की

आमों की तारीफ में खूब कसीदें पढ़ें गये है और शेर कहे गये है जैसे जरीफ लखनवी का एक शेर है –

तैमूर ने क़स्दन कभी लंगड़ा न मंगाया

लंगड़ें के सामने, कभी लंगड़ा नहीं आया

लखनऊ में दसहरी के ताल्लुकेदारों की दसहरी कोठी है जो झाऊलाल पुल और कचहरी रोड के बीच है और दंसहरी हाउस के नाम से मशहूर है। दसहरी हाउस के वर्तमान नवाब सैयद मुहम्मद असर जैदी साहब बताते है कि दसहरी गांव और आस–पास का इलाका पहले भरों की सम्पत्ति था मारशिवों का प्रभाव अवध क्षेत्र में सदियों बना रहा है उन्हीं भरों से नवाब साहब के पूर्वजों ने ये गांव ख़रीदा था। उनके ननिहाल के बुजुर्गों द्वारा नवाब सआदत अली खां के दरबार में और रेजीडेंसी की दावतों में भी ये आम, तोहफें के तौर पर भेजे जाते थे।

क़द्र काकोरवी ने काकोरी के आम के बाग़ों की रौनक को कुछ इस तरह कलम बन्द किया है–

आम के बागों में वह, पीना पिलाना याद है
मुद्दतें गुजरी हैं लेकिन, वो ज़माना याद है,

काकोरी के इस पेड़ के रखरखाव और बचाव की बातों को लेकर बहुत सी कहानियां कही जाती हैं जैसे कि फसल के दिनों में पेड़ पर इतना कड़ा पहरा रखा जाता था कि आदमी क्या कोई तोता भी इसकी गुठली इधर से उधर न ले जा सके। जो भी आम कहीं किसी को भेजे जाते थे सब बर्मा कर दिये जाते थे ताकि उसका बीज कहीं उगा न लिया जाये।

इस पेड़ की पहली कलम मुहम्मद इमदाद अली खां ने तैयार की और दसहरी के नवाब ने कुछ कलमें मलिहाबाद अपने दोस्तों के यहां भेजी और और कहना न होगा कि वो कलमें वहां ऐसा पनपी

की काकोरी किनारे रह गया और मलिहाबाद दसहरी आमों का डेरा हो गया। मलिहाबाद क्षेत्र में दसहरी ख़ासुलखास के अलावा हुस्न आरा, पुखराज, रामकेला, श्यामसुन्दर, जाफरानी, द्वारिकादास, सीपिया, आम्रपाली से फजली, सफ़ेदा, जौहरी, लखनउवा सफ़ेदा और चौसा जैसे नामी निगरामी आम पैदा किये गये। चौसा जिसकी फलत ज़रा देर से होती है मलिहाबाद में समर बहिश्त कहा जाता है।

आमों के नाम रखने का रिवाज भी बहुत पुराना है। औरंगजेब ने शाहज़ादा आजम के भेजे हुए दक्षिण के दो प्रकार के आम का नाम उसकी प्रार्थना पर "सुधारस" और "रसना विलास" रखा था।

शहद जैसे मीठे रसीले लखनउवा सफेदा की प्रशंसा में तो प्रसिद्ध कवि पुष्पेन्दु जी का एक सुप्रसिद्ध छन्द है –

लखनऊ का सफ़ेदा और लंगड़ा बनारस का
यही दो आम जग में उत्तम कहाये है
लखनऊ के बादशाह दूध से सिंचायों वाको
वही के वंशज सफ़ेदा नाम पायो है
या से लड़न को बनारस से धायो एक
बीच में ही टूटी टांग 'लंगड़ा' कहायो है
कहें 'पुष्पेन्दु' वा ने जतन अनेक कीने
तबहुं सफ़ेदे की नज़ाकत न पायो है,

□□

लक्ष्मण गंगा–गोमती

गोमती लखनऊ नगर के बीच से गुजरने वाली नदी ही नहीं लखनवी तहजीब की एक सांस्कृतिक धारा भी है। इस छोटी नदी की कहानी बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण है। गोमती के आदर में कहा जाता है –

ततो गोमती प्राप्य, नित्य सिद्ध निषेविताम्।

राजसूयम वाप्नोति, वायुलोकं च गच्छति।

गोमती अथवा धेनुमती नाम से ही इसकी महिमा का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस जलधारा की पवित्रता से प्रभावित होकर ही देश के कई जलाशयों का नाम गोमती रखा गया है, जैसे काठियावाड़ के द्वारिकाधाम मन्दिर के निकट की खाड़ी गोमती ही कही जाती है।

भगीरथ द्वारा गंगा के लाये जाने से पहले से ही इसके विद्यमान होने के कारण गोमती को "आदि गंगा" कहा गया है। हमारी संस्कृति में जल को जीवन कहा गया है और फिर बहते पानी की महिमा का क्या कहना।

गोमती का जन्म हिमालय से नहीं, हिमालय की तलहटी में समुद्र तल से 182 मीटर की ऊंचाई पर पीलीभीत जिले की पूरनपुर तहसील में हुआ, मनियाकोट गोमती का मायका है और माधौटांडा कस्बे के पास वो फुलहर झील है, जो गोमती का उद्गम है। गोमती के इस उद्गम के लिये कहा जाता है कि गोमती एक सिद्ध संत की आस्था का वरदान है। संत की समाधि आज भी यहां एक शिव मंदिर के निकट है जहां नागपंचमी का मेला लगता है। मनियाकोट के आस–पास कई जल स्रोत मिलकर एक होते हैं जो कि वास्तव में भाभर क्षेत्र के पथरीले इलाके के नीचे–नीचे से आते हैं। ये अनेक शिराएं मिल कर एक जलधारा बनाती हैं। गोमती उत्तर से दक्षिण

की ओर चलती है और फिर शाहजहांपुर जनपद में पांव रखती है।

इसी जनपद से गोमती पूरी तरह प्रवहमान होती है। यह सोया–सोया पानी जब जागकर आगे चलता है, बढ़ता है तो समाज के संस्कारी उपवनों को सींचता जाता है। रुहेलखण्ड का यह क्षेत्र अपने वीर वांकुरों के लिए प्रसिद्ध है। रुहेलखण्ड में अपना बचपन बिताकर 67 कि.मी. की यात्रा करके गोमती एक अल्हड़ किशोरी बनकर अवधांचल की सीमा में प्रवेश करती है।

लखीमपुरखीरी जिले में अक्षांश 28–11 और देशान्तर 80–20 की स्थिति में गोमती का प्रवेश होता है। परगना मुहम्मदी और पास गांव के बगल से निकलते हुए लखीमपुर के दक्षिण के पूर्वी क्षेत्र तक 152 कि.मी. लम्बा सफ़र तराई के हरे भरे जंगलों की परछाइंयों को समेटते हुए तय करती है, वन–पक्षियों का कलरव सुनते हुए।

अतः गोमती एक नवयोवना की भांति इठलाती हुई चलती है खीरी जिले के औरंगाबाद क्षेत्र के दक्षिण से होती हुई और फिर सीतापुर हरदोई जनपद में आती है। यहां से ये हरदोई, सीतापुर जिलों की सीमा रेखा बनकर बहती है। यहां मिश्रिख तहसील में बायीं ओर से आकर कठिना नदी इसे अपना अर्घ्य देती है, यह कठिना नदी जो शाहजहांपुर जिले की मोती झील से निकल कर आती है।

इसके बाद आता है गोमती का पहला पड़ाव 'नैमिषारण्य' तीर्थ

मन्थर गति से आयी गंभीरा "गोमती" यहां एक पवित्र धाम से परिणय करती है, हिन्दुओं का सर्वप्रसिद्ध स्थल नैमिषारण्य–

'एकदा नैमिषारण्ये ऋषयः शौनका दयः।

पपृच्छुर्मुनयः सर्वे सूत पौराणिकं खलु।।'

नीम के जंगलों से आच्छादित इस सनातन तपोवन में गोमती 88 हजार ऋषीश्वरों के पांव पखारती है। सतयुग से ही इस साधनास्थल, आध्यात्मिक पीठ से सहचेतना का रचनात्मक प्रकाश होता रहा है, सद्ज्ञान का प्रसारण होता रहा है। गोस्वामी तुलसीदास

जी ने रामचरित मानस में नैमिषारण्य की महिमा में लिखा–

तीरथवर नैमिष विख्याता,

अति पुनीत साधक सिधिदाता।

इस नैमिषारण्य की रक्षा–सुरक्षा की व्यूह रेखा गोमती ही बनाती है। जिससे तीर्थ की शोभा दुगुनी हो गई है। यहीं सूतजी के श्रीमुख से मुनियों ने भागवत कथा का श्रवण किया था। यहीं पर वेदव्यास द्वारा वेद विमाजन किया गया और हुई अठारह पुराणों की रचना–

नैमिषे सुतमासी नमामिवादम महामतिम्।

कथामृतं रसास्वाद कुशलः शौनको अब्रवीत।।

व्यास गद्दी जेमिनी आश्रम, ललिता पीठ, पाण्डव दुर्ग, चक्रतीर्थ, हनुमानगढ़ी, जैसे पावन स्थानों का पुंज है नैमिषारण्य। प्रत्येक चन्द्रमास की अमावस्या को यहां चक्रतीर्थ पर नहान का मेला लगता है, तीर्थ–यात्रियों का विशाल अनसमूह यहां आता है, ये पर्व सोमवती अमावस को और भी घूमघाम लेकर आता है।

इसी नैमिषारण्य में सम्राट् मनु और शतरूपा ने परमेश्वर को पुत्र रूप में पाने के लिये गोमती तट पर तपस्या की थी–

पहुंचे जाइ धेनुमति तीरा।

हरषि नहाने निरमल नीरा।।

दूर–दूर से यहां आए हुए पर्यटक चक्रतीर्थ में अवगाहन करके मन्दिरों में दर्शन करते हैं फिर नारदानन्द आश्रम, पुराण–मन्दिर और देवपुरी देखने जाते हैं। ललिता देवीमन्दिर में दिनरात मनौतियां होती हैं। चढ़ावे चढ़ते हैं और बच्चों के चूड़ाकर्म संस्कार होते हैं।

गोमती हरदोई जिले की सीमा रेखा बनकर हत्याहरण तीर्थ के निकट से होती हुई जब लखनऊ जिले की ओर आने को होती है तो इसके बाये तट पर सरायन नदी गले मिलती है। फिर सरायन का पानी लेकर आगे लखनऊ जनपद में आती है। यहां महोना मलिहाबाद

परगने के बीच से होती हुई बसहरी घाट पर लासा देवी के ऊंचे मन्दिर के नीचे से निकलकर बख्शी तालाब, कठवारा की चन्द्रिका देवी के पास से गुजरती है। यहां आस–पास आमों के बाग हैं जिनकी आम्र मंजरी का मादक सौरभ बसन्त ऋतु में गोमती के आंचल को सुवासित करता हैं और गर्मियों के मौसम में इस नदी के दोनों किनारों पर सुनहरे लखनऊवा खरबूजे पुखराज नगीने की तरह बिखर जाते हैं।

अब रानीमऊ रैथा के बीच होती हुई मूसाबाग और धैला गांव के मध्य से गोमती गऊघाट पर आती है। गऊघाट लखनऊ नगर में नदी प्रवेश का पहला निर्मल घाट हुआ करता था। गऊघाट जंहां का स्वच्छ नीर गायें पीती थीं, जिनके स्वस्थ दूध से सबका पोषण होता था, बच्चे पलते थे।

अब आ गया लखनऊ, कोसल जनपद की राजधानी अयोध्या का पश्चिमी दुर्ग द्वार लक्ष्मणपुर, जिसने पौराणिक काल देखे, महाजनपदीय युग देखे, फिर राजपूत साम्राज्य के बाद भरों, रजपासियों की राजधानी बनी लखनावती, आज भी गोमती लखनऊ के लक्ष्मण टीले का पदप्रज्ञालन कर रही है यहाँ गोमती को 'लक्ष्मण गंगा' भी कहा गया है। लक्ष्मण टीले के शेष तीर्थ और आदि गंगा की इसी धारा के कारण लखनावती को "छोटी काशी" कहा जाता था।

गोमती ने शेखजादों का लखनऊ, नवाबों का प्यारा लखनऊ और आज उत्तर प्रदेश का राजनगर लखनऊ, बहुत निकट से देखा है। मुगलकालीन नवाबों के चढ़ते उतरते वैभव को और अपने दाएं तट पर मच्छी भवन किले को बनते देखा है। गोमती में उस डूबते सूरज को आज भी लोग देखने आते हैं जिसके दम से अवध की शाम, "शामे अवध" का नाम पाती है।

यहां गोमती के तट पर हैं हुसैनाबाद की खूबसूरत इमारतों का हुजूम। आसफ़ी इमामबाड़ा–रुमी दरवाजा, गोमती के ऐतिहासिक

पुल कोठी फरहबख्श, छतर मंजिल, मोतीमहल, शाहनजफ़, क़दन रसूल, सिकन्दरबाग, ला कास्टेंशिया, विलायती बाग और कोठी बिबियापुर की शानदार ऐतिहासिक इमारतें। सन् 1857 का स्वाध ीनता संग्राम और बेगम हजरत महल की यादगारें लखनऊ की चिकनकारी, कामदानी, जरदोजी, इत्र, तेल, तम्बाकू, गोटा, वरक, और मिट्टी के खिलौनों का उद्योग ये सब गोमती के पानी से परवरिश पाते रहे हैं। गोमती के पानी में आपसी मेल–मिलाप की कोई धारा हैं और ललित कलाओं के विकास का दम–खम भी है।

लखनऊ में गोमती के घाटों पर जब तब मीड़ उमड़ कर आती है, गणेशोत्सव की मूर्ति विसर्जन दशहरे पर दुर्गा प्रतिमा के विसर्जन के लिए, चेटीचंड (चैतीचन्द्र) में वरुण पूजा के लिए या शहीद स्मारक पर श्रद्धासहित दीपदान के लिए आये हुए श्रद्धालु लोग आज भी जुड़ते हैं। यहां तक कि सबसे बड़ा मेला, कार्तिक पूर्णिमा का मेला, गोमती पर ही लगता है। जो यहां पूरे अगहन मास चलता रहता है।

लखनऊ के कुछ घाटों, मन्दिरों में गोमती मूर्तिमान भी देखी जा सकती हैं। यहां सबसे प्राचीन प्रतिमा 10वीं सदी की देखना चाहें तो इसी जनपद में इटौंजा के निकट डिगोई ग्राम में देख सकते हैं और एक सदी पुरानी प्रतिमा को शुक्ला घाट पर देख सकते है।

गोमती की बाढ़ ने लखनऊ नगर के कुछ हिस्सों को कई बार नहला दिया है। सन् 1915 और 1923 की भीषण बाढ़ को लोग भूले नहीं थे कि सन् 1960 में फिर भयंकर सैलाब आया और तब हजरतगंज में नावें चलने लगी थीं।

लखनऊ जनपद में अखण्डी मंझोवा गांव में, झिलंगी गोपरामऊ में, और बेता कांकराबाद में गोमती के दायें किनारे पर आकर मिलती है। केवल कुकरायल ही यहां बायें तट पर गोमती से संगम करती है।

लखनऊ के पिपरियाघाट के बाद से शहर दूर होता जाता है

और फिर मोहनलालगंज से सिकंदरपुर खुर्द के आगे लखनऊ जनपद छूट जाता है इससे पहले यहां गस्कर में रेठ और सलेमपुर में लोनी नदी मिल जाती है। अब आता है बाराबंकी जिले का दक्षिण भू–भाग, जहां हैदरगढ़ के निकट से नदी गुजरती है और इसी जिले में आकर कल्याणी नदी मिलती है।

उत्तर–पश्चिम दिशा से यह सुल्तानपुर जिले में प्रवेश करती है। यहां उत्तर में मीरनपुर और दक्षिण में बरउंसा है और पास ही है जगदीशपुर का नए औद्योगिक विकास से जगमगाता क्षेत्र। इसी सुल्तानपुर शहर के बीच गोमती, सीताकुण्ड तीर्थ होकर चुपचाप निकल जाती है। त्रेता युग में भरत जी चरणपादुका लेकर इसी मार्ग से अयोध्या लौटे थे

सई उतरि गोमती नहाए।

चौथे दिवस अवधपुर आए।।

इसके बाद आता हैं मीरन गांव और पांचो पीरन की मजारें। अब अल्देमऊ और चांदा के बीच होकर पापड़घाट के बाद आता है धोतपाप तीर्थ। यहां दायीं ओर घाट हैं मन्दिर हैं, इस स्थान पर अल्देमऊ, नूरपुर परगने में गोमती तट पर सतई बाबा का प्रसिद्ध मठ है जहां मेला लगता है। यहां खुदाई से बहुत से पुरातात्विक अवशेष मिलें हैं। इस क्षेत्र में भरों का राज सदियों रहा है। शेरशाह के दो किले भी हैं। यहीं चांदीपुर में कन्दू नाला आकर मिलता है। इसके बाद दक्षिण पूर्व की तरफ चलकर सिगरामऊ से जिला प्रतापगढ़ को छू कर गोमती बड़े आवेग से जौनपुर की मेहमान बनती है। मऊ शाहगंज लाइन पर खुरासों रोड पर गोमती तट पर दुर्वासा मंदिर है।

महर्षि जमदग्नि के आश्रम के निकट बसा हुआ प्राचीन नगर जमदग्निपुर आज जौनपुर कहलाता है। इस जौनपुर में आठ सौ साल पहले तक गोमती के दोनों किनारों पर भारशिवों का बोलबाला था। भरों के देवता करार वीर का प्रसिद्ध मंदिर आज भी यहां है। सन्

1326 में यहां की पुरानी रचनाओं को तोड़कर फीरोजशाह तुगलक ने एक किले का निर्माण किया था। जौनपुर का ये किला आज भी करार कोट कहलाता है, अटाला मस्जिद, बड़ी मस्जिद, इत्र, तेल और इमरती तथा जंगी मूलीके लिए जौनपुर शहर प्रसिद्ध रहा है।

सन् 1567 की बात है जब मुगल सम्राट् अकबर जौनपुर पधारे थे, उसके बाद ही उन्होने वहां एक पुल के निर्माण का आदेश दिया और फिर 30 लाख रुपये की लागत से जौनपुर का शाही पुल तैयार हुआ। खूबसूरत छतरियों वाला यह गोमती का पुल विश्व का पहला लेविलब्रिज है जिसकी नकल पर सन् 1810 में लंदन शहर का "वाटर लू" लेविल ब्रिज बनवाया गया है।

गोमती जौनपुर की झंझरी मस्जिद को अपने दायें तट पर छोड़ कर आगे बढ़ जाती है। कागज के इस छोटे शहर में जिसका नाम है जमेथा। यह महर्षि जमदग्नि, रेणुका और परशुराम जी का आश्रम रहा है। फिरोजशाह तुगलक ने इसे "शहरे अनवार" का नाम भी दिया था। यहां फक़ीरों के तमाम मज़ार होने के कारण इसको जनता पीरन शहर भी कहती रही है और फिर बाद में गयासुद्दीन तुगलक के बेट जफर के नाम से इसे नाम मिला "जफ़राबाद"।

जौनपुर के आगे 28.8 किमी पूर्व त्रिमुहानी पर सई नदी गोमती में आकर मिलती है। इस संगम पर हर साल मेला लगता है। आगे बढ़कर ये दक्षिण पूर्व की ओर वाराणसी और गाजीपुर जले की विभाजक रेखा बनाती है और यहीं बायें किनारे पर नन्द नदी से इसका संगम होता है– और फिर इससे 8 कि.मी. दूर 25–31 अक्षांश और 83–31 देशान्तर की स्थिति में गोमती अपनी पचरंगी चूनर लहरातीहुई गंगा में मिल कर गंगा हो जाती है। यहां मार्कण्डेय महादेव का सुविख्यात मंदिर है। यही स्थल है जहां राजा देवास ने दूसरी काशी बनानी चाही थी।

इस तरह वो नदी जो न पर्वतों से उतरी है न समुद्र में गिरी है।

उत्तर प्रदेश में उभरी है और सदाबहार संस्कृतियों वाली फुलवारियों में से 500 कि.मी. की यात्रा पूरी करके उत्तर प्रदेश की सरहद के भीतर ही विलीन हो जाती है। वास्तव में गोमती का चरित्र लखनऊ की गंगा–जमुनी छवि का आईना है।

□□

लखनऊ वालों की बोली

उमराव जान को किसी कस्बे में एक औरत मिलती है जिसकी दो बातें सुनकर ही उमराव कह देती है, "आप भी तो लखनऊ की हैं।"

इस पर वो औरत पूछती है, "तुमने क्यूं कर जाना" तो उमराव ने यही जबाब दिया "कहीं बातचीत का करीना छुपा रहता है।"

बात सच है लखनऊ वाला अपनी ज़बान से दूर देश में भी पहचान लिया जाता है।

वास्तविकता भी यही है कि इन्सान की पहचान उसकी जबान है क्योंकि आदमी की जिन्दगी में बात की बहुत बड़ी औकात है।

बात करने का सलीका है ज़िन्दगी वरना

आदमी चन्द मुलाक़ात में मर जाता हैं

हिन्दू शास्त्र कहते हैं मनुष्य के पास मन, वचन और कर्म यही तीन चेष्टाएँ है और इनसे ही कोई अच्छाई या बुराई की जा सकती है तो उसमें भी वाणी की मिठास निश्चय ही मनुष्य का बहुत बड़ा आचरण है जिसके लिये कबीर ने जनता के लिये जनता की आवाज़ में कहा था :

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय

औरन को सीतल करे, आपहु सीतल होय

और इसमें कई शक नहीं कि भली बोली ही भलाई का बीज है। मनुष्य की बोली सिर्फ़ एक ध्वनि नहीं है उसके विचार संस्कार और व्यवहार का दर्पण भी है। यह बोली उसके आस–पास की दुनिया की सभी हदों तक पहुंचती है, कहावत है–

"हलक से निकली, फलक तक पहुंची"

हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है जहाँ भाषा–भूषा के अनेक भेद तो हैं ही पानी और वानी की भी तमाम किस्में हैं फिर भी जिस ज़बान को देश और विदेश के सभी लोग आसानी से समझ लेते हैं उसे हिन्दुस्तानी कहते हैं। यह हिन्दी–उर्दू की वो गंगा जमुनी भाषा है जिसका अपना अलग ही आकर्षण है। और इस हिन्दुस्तानी का सबसे शुद्ध सुसंस्कृत और सरल स्वरूप लखनऊ की बोली में मिलता है।

लखनऊ अवध का सांस्कृतिक केन्द्र है, जहाँ की प्राचीन भाषा अवधी है। अवधी वो रसभीनी भाषा है जिसमें "राम चरित मानस" जैसे "पंचम वेद" की रचना की गई है और जो तमाम मुस्लिम कवियों को प्रेमाख्यानों के लिये प्यारी रही है। आज भी हिन्दी फिल्मों में जब खड़ी बोली के अलावा आंचलिक प्रभाव के लिये या मधुर लोक–गीतों के लिये किसी दूसरी बोली की दरकार होती है, तो वह हमेशा अवधी ही होती है।

अपना अलग रंग

लखनऊ वालों ने अपनी जबान को इस बुलन्दी तक संवारा है कि सारी दुनिया तक उसकी गूँज पहुंच गयी। लखनऊवालों में बातचीत की तमीज़ बेजोड़ है। यहाँ के लोगों का बोलने का तरीका और उच्चारण लाजबाब है जिसमें लफ्जों की अदायगी और ज़बान की मिठास प्रशंसा के काबिल होती है, वो हिन्दी जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, उसे निर्दोष ढंग से जितना अच्छा सुसभ्य अवध वाले पढ़ते है देश के और क्षेत्रों के लोग अपनी वाक् पद्धति के कारण नहीं पढ़ सकते जबतक कि वो यहां के तरीक़े को पूरी तरह अंगीकार नहीं कर लेते। उदाहरण के तौर पर "कहना" शब्द को ही ले लें, पश्चिम प्रभाव में इसी शब्द को "कैना" कहा जायेगा तो पूरब की तरफ "कोहना" कहा जाता है लेकिन लखनऊ में "कहना" को "कहना" ही कहा जायेगा। इसका असर यह हुआ कि फ़िल्मवाले

यहां वालों को बुलाते रहे या इधर दौड़–दौड़ कर आते रहे सिर्फ यह कहते हुए कि आपके पास वही जबान है जिसकी हमें ज़रुरत है और जो हमारे माध्यम की जान है, जिंदगी है।

उर्दू के दो घराने दिल्ली और लखनऊ के बीच अच्छी खासी कशमकश रही है। दिल्ली की उर्दू ज़बान सिपाहियाना है जिसका "रफटफ" तरीका अपना अलग है जबकि लखनऊ की बोली में दिल्ली का अदबी तकाज़ा है तो पूरब की मिठास भी मौजूद है। यहां वाले किसी की बात सुनते हुए हांजी, हांजी कहने के बजाए जी हां, जी अच्छा, दुरुस्त कहते हैं, आपकी मरज़ी जैसे खूबसूरत कसीदे इस्तेमाल करते हैं। और आखिरकार ये पाया गया कि लखनऊ की उर्दू दिल्ली के मुकाबले कहीं अधिक साफ़ सुथरी और सलील है।

पिछली सदी की बात है-- नवाब रामपुर के दरबार में लखनऊ के सुप्रसिद्ध शायर अमीर मीनाई साहब को एक मुशायरे के सिलसिले में बुलाया गया था। लखनऊ से रामपुर तक का सफर था और वो भी दो घोड़ों की बग्घी से, ग़रज़ कि रास्ते में कई दिन लग गये। अब वो थे और एक पछैंया कोचवान था। इतने लम्बे सफर में भी अमीर साहब या तो शेर गुनगुनाते रहे या कोई किताब पढ़ते रहे या फिर ख़ामोश ही रहे। उन्होंने गाड़ीवान से जरुरत भर बात की, ज्यादा बात करने का कोई हौसला नहीं किया। जाहिर है कि उनकी ये चुप्पी उस ग़रीब को गरां गुज़री। वजह पूछने पर अमीर मीनाई ने जबाव दिया "मुझे डर है कि तुमसे कई दिन तक बराबर बात चीत करते रहने से क़हीं मेरी जबान, मेरे लहजे में फर्क न आ जाये और मेरे करीब यही वो सिफ्ज़ है जिसके लिये मुझे रामपुर और दिल्ली वालों में इज्जत बख्शी जाती है अगर वहीं बात न रही तो मैं तो कहीं का न रहूंगा।"

अदीबों की बेटी–

नवाबी का ज़माना लखनवी तहजीब के दिन ब दिन संवरने का

जमाना था। इसी जमाने में लखनऊ की ज़बान को भी संवारा गया जिसका सेहरा कुछ हद तक यहां के मशहूर रचनाकार "नासिख" और उनके शागिर्दों को पहुँचता है। मिर्ज़ा रजब अली बेग "सुरूर" के "फ़सानए अजायब", और पं. रतननाथ "सरशार" के फ़सानए आज़ाद" में लखनवी ज़बान के दिलकश मंज़र मिलते हैं। अब्दुल अलीम "शरर" ने अपनी पत्रिका "दिलगुदाज" के हाथों भी इस बोली की परवरिश की थी। उन लोगों ने लफ्ज़ों की मुनासबत को परखा, पहचाना, उसके गलत अन्दाज को काट छांट की और बातचीत में मुहावरों का बेहतरीन इस्तेमाल किया। इस तरह ज़बान की इस चाशनी में गै़र को भी अपना बना लेने या फिर मनचलों पर आहिस्ता से फ़ब्ती कस देने की तरकीब भी थी। लखनऊ में इसी हुनर को लफ्ज़–लगामी और चाबुक दस्ती कहते है।

नयाज़ फतहपुरी ने "लखनऊ की फब्तियां" में जिक्र किया है– "एक बार चौक बाज़ार के मेवा फरोशों में एक कुंजड़ा टोकरे में संतरे लिये बैठा था। इसी बीच एक लम्बा चौड़ा आदमी आया और खड़े–खड़े सौदा करने लगा। संतरे की क़ीमत सुनकर खरीदार बोला "तुम ज़्यादा बताते हो संतरे तो छोटे है" तो कुंजड़े ने हौले से जबाब दिया "हुजूर बैठ के देखिये तो मालूम हों"

अब्दुल अलीम शरर ने भी "गुजिश्ता लखनऊ" में लिखा है कि लखनऊ के मनचले लड़के, बाज़ारु औरतें, अनपढ़ दुकानदार और जाहिल दस्तकार तक ऐसी फब्तियां कस जाते है कि बाहरवालों को आश्चर्य होता है। एक साहब कर्बला की जियारत करके वापस आये और बिल्कुल सफेद कपड़े पहन कर दोस्तों में आकर बैठे ही थे कि एक लौंडे ने कहा "ऐ यह फ़रात का बगुला कहा से आ गया।"

लखनऊ की बोली में मुहब्बत के साथ मुरव्वत भी महसूस की जाती है। यहां के लोग अगर किसी से हाल चाल भी पूछते हैं तो ये नहीं कहना पसन्द करते कि "सुना है आपकी तबियत खराब है"

जैसे आपकी खैरियत में ये बात कहते हुए भी उन्हें बड़ी तकलीफ होती है। वो यही कहेंगे "सुना है आपके दुश्मनों की तबियत नासाज है।"

मीर अनीस ने अपने मरसियों में कर्बला की मिट्टी की चादर ओढ़ कर सो जाने वालों का कुछ ऐसा दुखद वर्णन किया है कि एक ज़माने में लखनऊवालें "सो जाना" भी उसके सही माने में समझने से कतराते थे। वो कभी नहीं कहते थे कि चराग़ "जला देना" ये तो अपने आप में बदशगुनी है। वो यही कहते "चराग रोशनकर दीजियें" या "शमां रोशन कर दीजिये" इस तरह की बातचीत अब भी पुराने लखनऊ में बरक़रार है।

किसी का बच्चा मर गया है तो उसका जिक़्र करते हुए भी लखनऊ वाले "बच्चा मर गया" कहना नहीं पसद करते वो लोग कहेंगे "जाता रहा" या "नहीं रहा" किसी औरत के बेवा हो जाने पर "विधवा हो गयी" न कह कर सिर्फ "बिगड़ गया" मुहावरा बोला जाता है। औरतों के रजस्वला होने की बात कहना तो यहां की औरतों के लिये बेहद शर्म की बात समझी जाती थी इसके लिये लखनऊ की क्या हिन्दू और क्या मुसलमान औरतें इतना भी नहीं कहती हैं कि "सिर धोने को है" सिर्फ अपने बालों की एक लट चुटकी से रगड़ कर इशारे से ही आपस में समझा लेती हैं और समझ लेती है। लेकिन याद रहे ये अन्दाज खास शहर की बहू–बेटियों में ही बाकी है। अदब लिहाज की इन्तहा तो ये भी हैं कि यहां गर्भवती स्त्रियों के लिये "पेट से है" या "पांव भारी है, जैसे शब्द न कहकर यही कहना पसन्द किया जाता है "उम्मीद से हैं।" इनर या अंगिया को छोटा कपड़ा कहा जाता था बस।

लखनऊ में दुआ असीस का जो तर्ज है वो भी निराला है पुराने लोग घरों में पांव छूने पर 'बने रहो' का आशीर्वाद देते थे। "दुनिया में लम्बी अवधि तक, कायम रहना और आदमी बन के रहना बड़ी बात है 'बने रहो' इसी भावना की शुभकामना है। आमतौर से आज भी जो लखनऊ वाले हे वो छोटों को यही आशीर्वाद देते है" 'जियो, जागो,

खुश रहो आबाद रहो" मेरे ख़्याल से वो इस तरह प्रबुद्धता के साथ मानवीय जीवन जीने का इशारा करते है और हर हाल में खुश रहने का साहस सौंपते है ये अपने आप में एक बड़ी बात है। इस नामुराद नाशवान क्षणभंगुर दुनिया में खुशी सब से अनमोल चीज है और वो खुशी उसी को नसीब है जो मुश्किलों में भी खुश रहना जानता है और ये भी सच है कि बिना खुशी के खुश रहना ही सबसे बड़ी इबादत है।

घर से चलने वाले को पान तम्बाकू देते समय चूने के लिये "चूना" न कहकर "सफेदा" कहा जाता है या फिर 'तेल' का नाम न लेकर उसे "वो" से ही सम्बोधित किया जाता है। इसी तरह कोई बात यूं नहीं कही जायेगी कि ऐसा हमारे यहां "नहीं होता है" यही कहा जायेगा "ऐ बीबी ज़मीज़म होता है" लेकिन ये मुहावरा मुस्लिम घरानों की ही पहचान है।

भाषा दोष के कुछ नमूने भी :

लखनऊ की शब्दावली में कुछ विशेषता भी है, जो साधारण हिन्दी से कहीं–कहीं कुछ हट कर है। नमूने के तौर पर बोलचाल में यहां के कुछ लोग चावल को "चांवल", आटा को "आंटा" पूजा को "पूंजा" या फिर चादर को "चद्दर", दरवाजे को "दरवज्जे", चाकू को "चक्कू" सादी डोर को "सद्दी", चाची को "चच्ची" चाचा को "चच्चा", कहते हुए पाये जाते हैं। ये जबान यहां फड़ की जुबान कही जाती है। फड़ बोलने वाले सलाम को "बन्दंगी" "हमारे यहाँ को" हमारे खियां या नहीं को "नह" कहते हैं। कुछ ऐसे शब्द जो अपने सीधे मतलब के अलावा दूसरे मतलब में भी इस्तेमाल होते हैं यहां कसरत से बोले जाते हैं नमूने के तौर पर "दमे की शिकायत है (दमे का रोग है), इसी मारे कहते हैं (इसीलिए कहते हैं), हम जायेंगे थोड़ी (हम नहीं जायेगें) या "चाय ना दीजिये" (चाय ढाल दीजिये) वग़ैरा–वग़ैरा।

यहां के उच्च मुस्लिम वर्ग में जो भाषा दोष पाये जाते हैं, उसमें कैसे को "क्यूंकर", या "उन्होंने" के लिए "उन्हीं ने" जैसे शव्द खूब इस्तेमाल किये जाते हैं जबकि निम्न स्तर के मुसलमानों में "लखनऊ" को "नखलऊ", "ले आयेंगे" को "लिआयेंगे", "मुहल्ले" को महल्ले", "तब" को "जब", "तब ही" को "तभी", न कहकर "अभी", शब्दों का प्रचलन है और उनमें ही दरद, सुरख, सुफैद, सुबेरे जैसे शब्द भी कम नहीं बोले जाते। ठीक इसी तरह एक वर्ग के हिन्दुओं में "मना करने को "मिनहां", "नहीं" को "नहिंना", "निकट" को "नगीचे", "जगह" को "जिंगा", "नीचे" को "खाले", आगे को "आगू" पीछे को "पीछू" जैसे शब्द प्रयोग किये जाते हैं। कुछ मन्दिरों के लिए अवधी में सिद्धनाथों, कोनेसुरों और चांदकों कहा जाता है। अशुद्ध उच्चारण और भाषा दोष के अनुसार भी यहां की हिन्दी में उसका प्रतिशत नहीं के बराबर पाया जाता है।

टकसाली बोली

अवध में एक टकसाल शेरशाह सूरी के वक्त में कायम हुई थी और आज भी टकसाल मुहल्ला चौक में बाक़ी है। जिस तरह लखनऊ का सिक्का "जर्ब लखनऊ" और "मछलीदार" मशहूर है, उसी तरह यहां की टकसाली जबान भी कम मशहूर नहीं है। टकसाली ने बोली के वो वो सिक्के ढाले हैं कि जिनका कोई जवाब नहीं है। इसी जबान ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को "कम्पनी बहादुर" कोर्ट लॉ को कोरट साहब का नाम दिया। मार्टिन साहब की कोठी को "कोठी मारकीन साहब", गार्ड फार बेली को "बेलीगारद", क्वीन विक्टोरिया को "मलका टूड़िया" विक्टोरियागंज को "टूड़ियागंज" और फिर कैन्ट में रेजीमेंट मार्केट को "रजमन बाज़ार" कहा। यहाँ के लोगों ने हमेशा 'कर्नल के मज़ार' को "कल्लन की लाट", "महिला सेना" को "जनानी गारद", "मार्शल ला" को "मारछल्ला", "सी.डी.आर.आई." को "कारख़ाना जहर" और "सैटेलाइट" को

"झूठा तारा" पुकारा है। टकसाली ज़बान अपने आप में एक अच्छी खासी भाषा शैली है, जिसे वाग् विलास के लिये भलीभांति प्रयोग किया गया। लखनऊ के रिक्शे वाले कान्वेन्ट स्कूल को भक्तिनियां स्कूल ही कहते है ओर इसी नाम से सही पते पर पहुंचा देते है।

बेगमाती जबान

लखनऊ की जबान की नरमी के आधार पर दिल्ली वालों ने इसे "बेगमाती" का नाम दिया था। दरअस्ल "बेगमाती" अवध के महलों में पली हुई उस जबान का नाम है जिसकी परवरिश "अवध की बेगमों" द्वारा ही हुई। ये ज़बान हुस्न बाग की दौलत सरा ए सुल्तानी में ज़वान हुई थी। ख़ास बेगमों की तहरीर में इसका एक उदाहण पेश है।

"जाने आलम एक साल हो गया, सब चहीतियों को नवाज़ा। मुझ निगोड़ी को कभी भूल के भी पुर्जए कागज से न किया खुशआफजा। यहां दिन रात आतिशे फिराक में घुल रही हूं, वहां बेखवरी वो है जो जान रही हूँ।"

(यास्मीन महल का खत बनाम जाने आलम)

इस जब़ान की तैय्यारी और तराश में बेशक बेगमात का हाथ रहा है लेकिन ये वो जबान थी जो अवध के हाकिम हुक्कामों, दीवानों दरबारियों तक को बराबर से प्यारी थी क्योंकि ये कानों में रस घोलने वाली बांसुरी जैसी मधुर थी।

"गरीब परवर की दुहाई है", "फिर भला क्यूँ न हम आपके हुजूर में हाजिर हों", कहने वाले मर्द भी अपनी अरज़ी को मखमली बना के सरकारे सल्तनत तक पहुंचा देते थे और इसका बड़ा असर होता था जिससे इनकार नहीं।"

चुटकी लेने वाले इसी ज़बान के सहारे अपनी पेश दिमागी से न सिर्फ मौलिक बल्कि निराले सदाबहार साहित्य का सृजन करते

रहे हैं और उनके व्यंग्य, प्रसिद्ध व्यंगकार वाल्तेयर और मैडम जाँफरी से किसी कदर कम नहीं पाये गये।

यहाँ तवायफें भी कहेंगी तो यूं कहेंगी "ऐ लोगों देखो, इस तोते चश्म का तर्ज़े वफ़ा। क्या–क्या सब्जबाग दिखाये थे मुझे इसने और अब मुझे फूटी कौड़ी करार दे के जलती रेत में छोड़े जाता है।"

बांके कहेंगे तो ये न कहेंगे कि "ऐसा मारुंगा कि जबड़ा तोड़ दूंगा" बल्कि "जनाब, 'एक ही हाथ में दनदाने मुबारक शहीद हो जायेंगे" कहेंगे कहीं मर्द अपनी बीबियों की बात का जिक्र करेंगे तो यूँ करेंगे "वो हमसे कहा कीं कि हम वहां न जायें, लेकिन हम थे कि गये और गये, आखिर न माने तो नहीं माने।"

लखनऊ में हिन्दू घरों की औरतें रतजगों की रात अब अपने परिवार वालों के बीच नाचने गाने खड़ी होती थीं तो किसी तालीम के बिना भी उनके गानों के बोल बड़े अलबेले पाये जाते थे और जिनसे कानों को इश्क रहता है।

"अरे मैं आरसी का नगीना,

बलम काहे बिछड़े, बलम काहे बिछड़े"

कोई लड़की अगर अपने महबूब को मेहमान पायेगी तो यही कहती पायी जायेगी "ज़हे नसीब जो आपने नाचीज की नज़र को नज़ारे से नवाज़ा, अब बैठ भी जाहए क्या खड़े पीर का रोज़ा रखा है।"

ये ज़बान किसी महल, ड्योढ़ी, हवेली वालों की विरासत नहीं है। भाँड, मिरासियों के पल्लू से भी बंधी है। भाँड़ भी अपनी नकल को न समझने वाले को धीरे से यही कह देते हैं।

"क्या करे अक्ल से पैदल है"

इसी बेगमाती जबान को महल की लौण्डी, कनीजें, अपने तरीके से बोलती रही हैं जिसमें, "उई अम्मां, हाय अल्लाह, ऐ नौज, मैं वारी" जैसे लटकों की भरमार रहती थी। जिसका एक नमूना है–

"लो और सुनो न जान न पहचान और मुआ जूतियों समेत आंखों में दाखिल हुआ जा रहा है, इक जरी नहीं सुनता किसी की"

लखनऊ की ये जबान नवाबी के बाद भी महलों और हवेलियों के भीतर बखूबी पलती रही। ग़दर के सवा सौ साल बाद भी शीशमहल के इलाके में या पुराने शहर की ऐतिहासिक ड्योढ़ियों में ये ज़बान वैसी की वैसी ही याने उसी खालिस और बेहतरीन तरीके से बोली जाती है। उस दायरे की बेगमों की तो बात ही क्या, ख़ादिमाये, नौकरानियाँ ऐसे प्यारे ढंग से कलाम करती हैं कि सुननेवाले के होश दफ़ा होते हैं। वो आज भी जो कुछ बोल देती हैं या बात–बात में कह जाती हैं, वो अपने आप में एक अनूठा साहित्य होता है। इस ज़बान के वहां बचे रहने की वजह यही है कि वो औरतें तमाम बाहरी लोगों से बातचीत करने से बचती रहीं और पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी गुफ्तार की क्यारियां फूलती फलती रहीं।

नवाबी के बाद ये जबान लखनऊ के कोठों पर आम अवाम की पहुँच में थी और वहाँ तमीज की तालीम और बातचीत का तरीका सीखने के लिये ऊँचे घराने के लड़के और लाट साहब के बच्चे भेजे जाते थे। आज़ादी के बाद कोठे आबादी में बिखर गये तो इस ज़बान ने अदीबों के घरो में उनकी किताबों में डेरा किया। जिससे कभी–कभी कोई न कोई रोशनी की लकीर फूटती रही।

अदब के मामले में यहाँ घर–घर आज भी कहा जाता है

"बाअदब बा नसीब, वे अदब, बेनसीब"

"माँ" के लिए "अम्मां" जैसा सरस, सुबोध और प्यारा सम्बोधन इसी इलाके की देन है।

लखनऊ ने प्यार, मुहब्बत का जो संदेश आपस में मिलजुल कर चलने की जो रीति अपनी जबान के "हम" से दी है वो बात "मैं" में कहां है। "मैं" में अगर घमंड है, अकड़ और अकेलापन है तो

"हम" में सबके साथ होने की सशक्त प्रस्तुति है, विनम्रता है और प्रीति की सुगन्ध है। यहाँ वाले हमेशा "हम" कह कर ही बात करते हैं और ये आज के समाज के लिये किसी उपहार से कम नहीं। यहां के "पहले आप" में भी, जो सौहार्द और परस्वार्थ की भावना है, उसका मज़ाक उड़ाना चांद पर थूकना ही होगा। ओछी अक्ल़ के लोग जो कमतरी के शिकार होते हैं वही ऐसे सामाजिक मूल्यों से इनकार करते हैं।

सच तो यह है कि लखनऊ की बोली लखनऊ वालों के दिली चैन और बेफिक्री का आईना रही है। इसमें किसी के लिये कहीं से कोई उलझन नहीं है। ये बातें सुनने वाले के लिये ही ताव–तनाव से रहित नहीं हैं, बोलने वाले के स्वभाव और सेहत के लिये भी अच्छी हैं।

बीसवीं सदी का मध्याहन हिन्दी सिनेमा संसार के सुमधुर संगीत का स्वार्णिम युग था। उन कर्णाप्रिय गीतों की धुन ही नहीं बोल भी बड़े सुहाने होते थे और उन की आड़ में थी लखनऊ की ज़बान, शकील बदायूनी, मजरूह सुल्तानपुरी, कैफ़ी आज़मी या और दूसरे शायर लखनऊ स्कूल के ही हिमायती रहे हैं। यहां बोली की एहतियात ही उन गानों को क़ीमती बनाती है नमूने के तौर पर लखनऊ में रात की महफ़िल को 'रतजगा' कहा जाता हैं जगराता कभी नहीं कहा जाता। फिल्म 'साहब बीबी गुलाम में' आशा भोंसले और सखियों ने गया है एक गाना "सुना है तेरी महफ़िल में रतजगा है" ये शकील की क़लम थी इस रतजगे की जगह अगर जगराता होता, तो क्या होता, समझने वाले समझ सकते हैं।

लखनऊ में दुपट्टा शब्द या चुनरी शब्द का ही इस्तेमाल होता हैं 'चुन्नी का हरगिज नहीं। आज भी अमीनाबाद लखनऊ के दुकानदार "दुपट्टा महल", "दुपट्टा कार्नर" नाम से दुकाने करते है और विज्ञापन में लहंगा चुनरी लिखते हैं फिल्म 'तीन देवियां' के एक खूबसूरत गीत में आशा जी ने गाया है:

"जब मेरी चुनरिया मलमल की

फिर क्यूं न फिरूं ढ़लकी ढलकी"

इस बन्दिश में अगर मजरूह साहब 'चुन्नी' कह देते तो शायद गाने की जान ही निकल जाती। बरसात के गीत "हवा में उड़ता जाए मेरा लाल दुपट्टा मलमल का" में अगर दुपट्टा की जगह "मेरी लाल चुन्नी मलमल की "कहा जाता तो गीत का सारा हुस्न ही ठण्डा पड़ जाता। ये कलम के धनी लोग लखनऊ का सलीका सीख कर ही कलम चलाते रहें हैं इसी में उनकी शान थी।

लखनऊ सभ्यता का केन्द्र होने के साथ–साथ गंगा–जमुना के आंगन में से होकर गुजरने वालों के लिये सरे रहगुज़र भी था, इसलिए यहां सदियों से तमाम कौम के देशी–विदेशी लोगों का आना–जाना रहा और अवसर इस जमीन के खिंचाव ने उनको यहां रोक भी लिया। इन सब लोगों ने लखनवी ज़बान को बख़ूबी अपना लिया और यहां की तहज़ीब का एक हिस्सा बनकर रहे और इस गुण ने उनकी इज्ज़त में भी इज़ाफ़ा किया क्योंकि लखनऊ की संस्कृति किसी एक धर्म, जाति, सम्प्रदाय या सल्तनत का नाम नहीं था, यह स्वयं ही एक मिलीजुली जीवन शैली है। लेकिन वर्तमान सदी की दोपहर के बाद लखनऊ की बाहों में इस तेज़ी से एक भीड़ समाती जा रही है, जिसने यहां की जिंद्गी को बिल्कुल बेतरतीब कर दिया है।

अगर ऐसा ही रहा तो वो दिन दूर नहीं जब ये बातें सिर्फ कुछ लोगों में और फिर चन्द किताबों में सिमट कर रह जायेंगी। ऐसा ख्याल भी दिल को दुखाने लगता है और मौलाना सिब्ते हसन का ये मिसरा याद आ जाता है–

"वतन में बैठ के रोयेंगे, हम ज़बां के लिये"

❑❑

लखनऊ के शायराना कमाल

लखनऊ को उर्दू शेर–ओ–अदब का केन्द्र कहना कुछ ग़लत नहीं है, क्योंकि 300 वर्ष पुराने लखनऊ स्कूल ने समय–समय पर शायरी के अनोखे आयाम दिये हैं। मीर की ग़ज़ल सौदा, के कसीदे, नसीम की मसनवी और अनीस के मरसिये–ये वो खूबसूरत बूटे थे, जो इस गुलज़ारे लखनऊ में महके थे।

लखनवी शायरी की जान थी लखनऊ की उम्दा ज़बान, लफ्ज़ों की लोच लचक और मुहावरों की मोहिनी। अंदाज़े बयानी और लबोलहजे के इस फर्क से दिल्ली स्कूल और लखनऊ स्कूल की शैली का अंतर अच्छी तरह स्पष्ट होने लगा था और ये ज़माना शेख इमामबख्श 'नासिख' का जमाना था, जब ग़ज़ल, कसीदा, मरसिया, रूबाई, किता, मसनवी सब में लखनऊ ने अपनी धाक जमा ली थी और फिर ज़ाहिर है कि दिल्ली के शायरों को ये ग़म खाने लगा कि लखनऊ, दिल्ली स्कूल से बाहर कैसे हो गया। गरज़ ये कि उनमें प्रतियोगिताएं होने लगी और इस प्रतियोगिता की तैय्यारी में लखनऊ के शायर आपस में ही अपने परों को तौलते रहते थे। इस तरह गिरह लगाने, जवाबी शेर कहने की तालीम, उस्ताद लोग अपने शार्गिदों को देते थे और अक्सर दो घरानों के बीच मिसरा जोड़ने की तमीज़ भी देखी जाती थी।

गिरह लगाने की परम्परा :

लखनऊ के शायरों ने गिरह लगाने की साहित्यिक परम्परा में भी अपने अंदाज और फ़न की बारीकी को नहीं छोड़ा है इस सिलसिले में सबसे पहले। ये मिसाल पेश करनी उचित होगी, एक बार दिल्ली स्कूल के एक़ शायर ने अपना मिसरा–सानी लखनऊ भेजा। "कोसों बढ़ा हुआ है पियादा सवार से",

मंजर बहुत मुश्किल था, यहां काव्य शिल्प में एक असंभावना

को विपरीत ढंग से पेश किया गया था, भला पैदल घुड़सवार से आगे कैसे जा सकता है, लेकिन इस अधूरी बात को पूरा तो करना ही था, लखनऊ स्कूल के कुछ शार्गिद अपने गुमनाम उस्ताद के पास पहुंचे जो उस वक्त हुसैनाबाद के तालाब पर मछलियों का शिकार कर रहे थे, अनसे अर्ज़ किया कि उस्ताद मिसरे की लाज है, वरना शहर की आबरू जाती हैं। उस्ताद ने मिसरा सुना उन पर कुछ असर न हुआ सिवा इसके कि बिना पीछे मुड़े हुए बोले, इसमें क्या मुश्किल है, उनसे जाकर कह दो –

कांधे पे है जनाज़ा तो, मुल्के अदम में रूह,

कोसों बढ़ा हुआ है, पियादा सवार से,

हज़रत 'नासिख' और 'आतिश' में भी इस प्रकार की प्रतियोगिताऐं अक्सर होती थीं, एक बार 'नासिख' ने यह मिसरा छोड़ा "नातवां हूँ कफ़न भी हो हल्का" इस पर और शायरों ने मखमल जैसे नरम और मलमल जैसे बांरीक कपड़ों का तसव्वुर किया, लेकिन 'आतिश' ने इसमें लखनवी तर्ज़ की ये बेमिसाल गिरह लगायी।

नातवां हूं कफ़न भी हो हल्का,

डाल दे साया, अपने आँचल का

और जाहिर है कि इस तरह के कफ़न का खयाल लखनऊ की तबीयत का आईना है,

'नासिख' ने अगली बार मिसरा ऊला (प्रथम पंक्ति) लिख भेजा, "इसलिए कब्र में रखा इन्हें जंज़ीर समेत"

जिस पर 'आतिश' ने फौरन मिसरा–सानी (दूसरी पंक्ति) जोड़कर शेर को कुछ इस तरह पूरा किया –

इसलिए क़ब्र में रखा इन्हें जंज़ीर समेत,

हश्र में हश्र न बरपा करें, ये दीवाने

इसी तरह इन दोनों की एक और मशहूर गिरह बंदी है, जिसमें 'नासिख' ने आधा शेर यूं कहा था, "शराब सीख़ पे डाली कबाब शीशे में" ये एक ऐसी उलट बांसी थी कि जिसका न कोई अनुमान लगाया जा सकता था और न अर्थ लेकिन 'आतिश' ने इस बेसिर पैर की अधूरी बात को पूरा करके एक खूबसूरत शेर को जन्म दिया,

किसी के आते ही, साकी के ऐसे होश उड़े,

शराब सीख़ पे डाली, कबाब शीशे में,

मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आबेह्यात' में जिक्र किया है उस मिसरे का, जिसको उस्ताद ने तो कह दिया, लेकिन उस पर गिरह की बड़ी दुश्वारी थी, वो मिसरा था—

"आंखे खुली हुई है, अजब ख्वाबे नाज है"

उनके ही शार्गिद ने इसी ज़मीन पर बेहतरीन गिरह लगायी, "फ़ितना तो सो रहा है, दरे फ़ितना बाज है"

(यहाँ आंखों को कयामत की संज्ञा दी गई है और बाज़ का अर्थ खुले होने से है, यानि कयामत तो सो रही है लेकिन क़यामत का दरवाज़ा खुला हुआ है।)

लखनऊ के एक शायर की शायराना वसीयत की बड़ी चर्चा होती है। सुना है वो दौलतगंज में थे उन्होंने अपनी मौत के बाद ये वसीयत छोड़ी जो उनके अधूरे कहे गये शेर को पूरा करेगा, वही उनकी मिट्टी को गुसल करायेगा, वही उनके कफ़न दफ़न को अंजाम देगा, शेर क्या था एक सवाल था—

'क्या तेरे हाथ टूट जाते, जो देख लेती एक बार'

मिसरा भी अपने आप में बेमिसाल था, यानि देखने और हाथ टूटने का आपस में क्या रिश्ता? इस मिसरे पर न आसानी से गिरह लगाई जा सकी और न उनका जनाजा उठ सका, इसी बीच उधर गोमती घाट से वापस गुजरते हुए एक धोबी ने मैय्यत के साथ लगी

भीड़ को फिर देखा और वजह पूछी, तो मालूम हुआ कि इस मिसरे में गिरह लगाना है और आखिर उस धोबी ने इज़ाजत मांग कर इस समस्या को हल कर दिया। ये कहकर की शायर तो नहीं हूँ लेकिन सोहबतें उठायी है, उसने कहा :–

"क्या तेरे हाथ टूट जाते, जो देख लेती एक बार"

इतना भारी तेरी पीनस का, वो पर्दा तो न था,

दिल्ली के शेख़ कलंदरबख्श 'जुर्रत', जो दोनों आंखों से लाचार थे, लखनऊ आकर आबाद हुए थे उनके यहाँ अक्सर इंशा अल्लाह खां 'इंशा' आया जाया करते थे, जो कि सआदत अली खां के दरबारी कवि थे। 'इंशा' और 'मसहफी' की नोंक–झोंक मशहूर है एक दिन जब 'इंशा', 'जुर्रत' के घर पहुंचे तो देखा कि वह बड़े ध्यान मग्न बैठे हैं। उनसे इस संजीदगी का सबब पूछा तो बोले, 'शेर का पहला मिसरा हो गया है और उस वज़न में कोई दूसरा हासिल नहीं होता" 'इंशा' ने अर्ज़ किया, 'हुजूरेवाला पढ़िये तो सही' तो 'जुर्रत' साहब ने पहला मिसरा पढ़ा,

"इस जुल्फ़ पे फब्ती शबे दैजूर की सूझी'

इसमें 'इंशा ने फ़ौरन गिरह लगाई :

'अंधे को अंधेरे में, बड़ी दूर की सूझी"

यह सुनते ही 'जुर्रत' साहब छड़ी लेकर टटोलते हुए 'इंशा' के पीछे दौड़ पड़े थे।

मिसरा जोड़ने की परंपरा में अक्सर दो विभिन्न संप्रदायों के बीच मीठी फ़िकरे बाज़ी भी हुई है, लेकिन उनमें भी साहित्यिक श्रेष्ठता और भावों का स्तर बराबर कायम रहा और ऐसी गिरहे कभी आपसी वैमनस्य का कारण नहीं बनी।

वो जमाना अबध में मुस्लिम शासन का जमाना था, मुस्लिम शायर अक्सर हिन्दू आस्था पर चोट करने वाली बात, आधे शेर में

क़ैद करके सामने रखते थे। हज़रत 'नासिख' इस तरह के शेर पेश करने में माहिर थे ये शेर हिन्दू शायरों के अक़ीदे पर हमलावर होते थे और बहुत नाजुक होते थे,

इस सिलसिले में 'नासिख' का एक मशहूर मिसरा है,

'हैं वह सब काफ़िर कि जो बंदे नहीं इस्लाम के''

मिसरा तेज़ दो धारी था, जिसका वार संभालना बड़ा मुश्किल काम था, लेकिन पं. दयाशंकर 'नसीम' ने मिसरा जोड़ कर इस शेर को पूरा कर दिया था

''लाम नस्ता लीक हैं गेसू मेरे घनश्याम के''

''हैं वह सब काफ़िर क़ि जो बंदे नहीं इस्लाम के''

(बहुत खुशख़त लिखे गये अरबी अक्षर 'लाम' की तरह छल्लेदार मेरे घनश्याम के घुंघराले गेसू हैं और जो इस 'लाम' याने– लट के मुरीद नहीं है, वो निश्चय ही धर्महीन है)

शैख़ नासेख का ही एक और मिसरा था 'शैख़ ने मस्जिद बना मिस्मार बुतखाना किया।' अर्थात इस्लामी धर्म प्रचारक ने मन्दिर को नष्ट करके मस्जिद का निर्माण किया है,

पं. दया शंकर 'नसीम' ने जो कि कश्मीरी ब्राह्मण थे और 'आतिश' के शार्गिद थे। इस शेर को बड़ी सादगी के साथ जामा पहना दिया :–

'शेख ने मस्जिद बना मिस्मार बुतख़ाना किया

पहले एक सूरत भी थी, अब साफ़ वीराना किया'

शेखों बिरहमन् के इस मुक़ाबले की एक गिरह बंदी यह है, जिसमें आधा शेर था :

''बिरह मन कर रहे है बे वजह, तौक़ीर पत्थर की''

और इस मिसरे में जो गिरह लगायी गयी, वो हैं कुछ इस तरह :

कसम है संगे असवद की, तुझे ऐ शेख, सच कहना,

बिरहमन कर रहे हैं बेवजह, तौक़ीर पत्थर की?

और ये शेर एक कायस्थ ने पूरा किया था कायस्थों की कलम का कमाल भी इसमें दर्ज है।

सय्यद अनवर हुसैन 'आरजू' लखनवी (गोलागंज वाले) से एक सज्जन ने मिसरा देकर कहा था, कि अगर दस वर्षों में भी इसपर दूसरा मिसरा लगा सको तो तुम्हे शायर मान लें।

उस अजीब मिसरे में उन्होंने फौरन वह मिसरा लगाया कि उससे पहले वाला बेकार मिसरा भी चमक उठा।

पहला मिसरा था 'हुस्न की छेड़ को मिज़राबे रगे जां देखा'

इस पर दूसरा मिसरा लगाया गया, उसमें मिज़राब की नाजुक छेड़ का भरम बाक़ायदा कायम रखा गया और फिर शेर ने ये शक्ल अख़्तियार की :

चटके जो गुंचे तो बुलबुल ने भी नग्मा छेड़ा,

हुस्न की छेड़ को मिज़राबे रगे जां देखा,

गिरह लगाना बड़ा कठिन काम समझा जाता था, शब्द और अर्थ के भाव को नया मोड़ देते हुए उनमें गिरह इस तरह लगायी जाती थी कि उसका मतलब ही उलट जाता था, इन शेरों में गिरहबंदी करने वाले शायर या तो ब्राहमण होते थे या कायस्थ,

दूसरा मिसरा था 'जा छोड़ दिया हाफिजे कुरआन समझ कर"
मिसरे का सादा अर्थ हुआ कि तुझे कुरान का मर्मज्ञ समझ कर मैंने तुम्हें छोड़ दिया है, लेकिन शेर के दोनों मिसरों ने मिल कर क्या बात बना ली है, जो बस अपने आप में लाजवाब है।

खाले रूख़े महबूब तूझे खूब समझता हूं,

जा छोड़ दिया हाफिज़े कुरआन समझकर,

(प्रियतम के गाल पर चिपके हुए तिल, तेरी ये मजाल है। लेकिन खैर चेहरे का रखवाला समझ कर जा मैंने तुझे बख़्श दिया, यहाँ हाफिज का अर्थ सरंक्षक और कुरआं का मतलब चेहरे से है)

तरही मुशायरा :

तरही मुशायरों का सिलसिला बहुत पुराना था, जिसमें नमूने का कोई शेर दे दिया जाता था और उसी के काफ़िये रदीफ़ को देखते हुए उसी ज़मीन पर गजल कहनी होती थी, आज़ादी के बाद उर्दू शायरी में जो इंक़लाब आये, उन्होंने इस तरह के काव्य कौशल का नामों निशान ही मिटा दिया और अब अगर समस्यापूर्ति के लिए कहीं ऐसे आयोजन होते भी हैं, तो उस शिल्प और बारीकी का कहीं कोई रंग नहीं मिलता। ब्रिटिश शासन काल के तरही मुशायरों का जायज़ा लेते हुये इन शेरों की गिरह बंदी की खूबसूरती का जिक्र कुछ बेजा न होगा,

जैसे एक शेर की 'तरह', मुशायरे में इस तरह पेश हुई :

"किस मसर्रत से मेरी मौत का गम होता है",

तो इस पर एक शेर में ये मौजूं रखा गया,

धूम से आये हैं, मद्फ़न पे चढ़ाने चादर
किस मसर्रत से मेरी मौत का ग़म होता है,

इस अशआर में कुण्डरी रकाबगंज लखनऊ के इकबाल बहादुर 'इकबाल' ने गिरह लगाकर उर्दू शायरी में अपनी सुख़नवरी का सबूत दिया था और आज तो इस गिरहबंदी के नाम पर यही शेर बेसाख्ता जबान पर आता है :

कैसे सहरा में अकेला है मुझे जाने दो,
खूब गुजरेगी जो मिल बैठेंगे, दीवाने दो,

लखनऊ में आज भी उर्दू शायरी के नए अलम बरदारौं में

स्व. वाली आसी, स्व. कृष्ण बिहारी नूर, रईस अन्सारी, अनीस अन्सारी मलि ज़ादा मंजूर अहमद, इरफ़ान सिद्दीक़ी, बशीर फ़ारुक़ी और खुशबीर सिंह 'शाद' जी के नाम क़ाबिले ग़ौर हैं।

इसी तरह उर्दू नस्र (गद्य) पर श्री आबिद हुसैल, डॉ. नैयर मसूद, आयशा सिद्दीकी, डॉ. आसिफ़ा जमानी, डॉ. शीमा रिज़वी, मुस्तफ़ा ज़ैदी और मुश्ताक परदेसी के एहसान हैं।

उर्दू शायरी में जवाबी जंग :

उर्दू शायरी में दिल्ली और लखनऊ के बीच चलने वाली जवाबी जंग में कहीं भी किसी कांटे का कोई अहसास नहीं पनपा, बल्कि इसने उर्दू साहित्य का दामन फूलों से भर दिया। अकसर शेर कहने वाला कोई ऐसी बात कहता है, जो दूसरे के विचारों और उसकी परंपराओं के अनुकूल नहीं होती या फिर उसमें कोई चोट की भावना होती है और फिर जाहिर है कि दूसरे को भी मुंह खोलने पर मजबूर होना पड़ता है, अब ये बात और है कि शेर या रूबाई का जवाब तो उसी रंग में मंजूर किया जाता है।

दिल्ली के मशहूर शायर 'जौक़' ने कहा :

"ऐ जौक़ तकल्लुफ में है तकलीफ सरासर,
आराम से हैं वो, जो तकल्लुफ नहीं करते,"

लखनऊ वाले इस पर भला क्यों खामोश रहते? लखनऊ की तो जिन्दगी ही तकल्लुफ़ की है उन्होंने इसका जवाब यह दिया :

माना कि तकल्लुफ में है तकलीफ सरासर,

इंसान क्या हैं वो? जो तकल्लुफ नहीं करते,

'जौक' साहब बहादुर शाह 'जफ़र' के उस्ताद थे, लेकिन जब बादशाह के बेटे मिर्ज़ा जवांबख्त की शादी थी, तो उनकी बेगम ज़ीनत महल ने सेहरा मिर्ज़ा गालिब से लिखवाया इस सेहरे में जो मक्ते का शेर (अंतिम चरण) था उसमें आत्मप्रशंसा की भावना थी।

हम सुखन–फ़हम है गालिब के तरफ़दार नहीं,

देखें इस सेहरे से बढ़कर कोई कह दे सेहरा,

इस पर 'ज़ौक' ने एक सेहरा लिखकर पेश क़िया जिसमें उस शेर का जवाब था।

जिसको दावा हो सुखन का, ये सुना दो उसको

देख इस तरह से कहते हैं सुखनवर सेहरा।

उर्दू जबान की तराश और तमीज को लेकर दाग देहलवी ने यह शेर फरमाया था :

नहीं खेल ऐ दाग यारों से कह दो,

ये उर्दू ज़बां आयेगी, आते–आते,

इधर अमीर मीनाई, जो लखनऊ की ज़बान का प्रतिनिधित्व करते थे, लखनऊ का मर्तबा : इस तरह बुलंद कर गये हैं :

दावा सुख़न का लखनऊ वालों के सामने

इज़हारे बूए मुश्क गज़ालों के सामने,

(बातचीत की बेहतरी का दावा और वो भी लखनऊ वालों के सामने? यह तो वही हुआ कि कस्तूरी की सुगंध की चर्चा, उन हिरनों से की जाये, कस्तूरी जिनकी नाभि में है)

पैमाने का दर्द :

अपने महबूब के अधरामृत पान के लिए एक प्रेमी ने बलिदान का कुछ ऐसा चित्र खींचा है :

मर के मैं ख़ाक हुआ, ख़ाक से पैमाना हुआ,

तब मयस्सर मुझे एक बोस–ए–जांनानां हुआ,

लेकिन मुहब्बत में मिलन की दुश्वारी का यह दर्द भरा मंजर कुछ और ही है।

मय से तौबा की सितमगर ने, मुकद्दर देखो,

जबकि तैयार मेरी ख़ाक से पैमाना हुआ,

नवाब वाजिद अली शाह ने अपने शासन काल में लखनऊ शहर में अमन क़ायम रखने के लिये होली के त्योहार पर खुलेआम शराब पीने पर रोक लगा दी थी, होली पर शराब बंद हुई देख कर मुंशी शंकर दयाल 'फरहत' ने सरकारे आलम को एक बंद में 'अर्जी' इस तरह भेजी थी।

"कुर्क मय अय्याम होली में कहो क्या कीजिये
जी में आता है कि इस सूरत में कंठी लीजिए,
गर तमाशा, कायथों का देखना मंजूर है,
शाह दो दिन के लिये मय की इजाज़त दीजिए,"

जाने आलम उनकी सूझ–बूझ के क़ायल हो गये और उन्होंने इज़ाजत के साथ यह जवाबी बंद लिख भेजा :

"गर इजाज़त चाहते हैं, खौफ इतना कीजिए,
साथ ही भर–भर किसी बदमस्त को मत दीजिए,
नशे में आकर किसी के घर कहीं वो घुस पड़े,
नालिशों से मत ख़राबी सर पे अपने लीजिए।"

दार्शनिकता भारत की अमूल्य निधि रही है और सारे संसार में 'ब्रह्मास्मि' का नाद जो पूरब से उठा था, पश्चिम में उसी की प्रतिध्वनि 'अनलहक़' बन कर उभरी थी। जवाबी अशआरों में भी उस भावना का रंग कहीं–कहीं मिलता है।

एक प्रेमी युगल किसी उपवन के हरे ग़लीचे पर बैठा दुनिया से दूर बादलों में मन से चहलकदमी कर रहा था। जब भरम टूटा, तो महबूबा उठकर खड़ी हो गयी और उसने देखा कि उसके आंचल पर कुछ मिट्टी लग गयी है, गरज़ ये कि उसने उसे साफ कर देना चाहा, अब उसके आशिक से भला क्यूं रहा जाता? उसने फब्ती कस दी :

"ख़ाक का पुतला है तू उस पर तबस्सुम तेज़ हैं।
खाक में मिल जायेगा पर ख़ाक से परहेज़ है,"

चिराग की लौ की तरह रोशन—चेहरा उस माशूक़ा ने भी फौरन शेर का जवाब शेर से दिया :

जब तलक ये ख़ाक उसके नूर से लबरेज़ है,
तब तलक इस ख़ाक को उस ख़ाक से परहेज है,

बहरहाल, सच तो ये है :—

शायरी खेल नहीं है, जिसे बच्चे खेलें,
होश उड़ जाते हैं जब सामने शेर आता है।

□□

"गालिब शिकन" –यगाना लखनवी

अगर आप ने लखनऊ शहर ठीक तरह से देखा है तो आप को मालूम होगा कि नाके चौराहे से पश्चिम की तरफ जाने पर ऐशबाग फ्लाई ओवर पड़ता है जिसके आगे मोती झील कालोनी और माधव पैलेस टाकेज के बाद हैदरगंज क्रासिंग आती है। इस तिराहे से दायीं तरफ विक्टोरिया स्ट्रीट है जो नक्खास की तरफ जाती है और बाँयी तरफ तालकटोरा रोड है जिस पर शुरू में ही लक्ष्मणगंज का इलाका है। यहीं दाहिने हाथ पर गहरे हरे रंग के बूटेदार, फाटक के भीतर करबला मुंशी फजले हुसैन खाँ है जिसमें सो रहे हैं मिर्ज़ा यगाना चंगेजी लखनवी'।

यगाना सिर्फ एक नाम नहीं, एक शायर ही नहीं, एक शोला थे, एक तहलका थे। इनका जन्म 17 अक्टूबर, 1884 में पटना में हुआ था इसीलिए वह पहले मिर्जा वाजिद हुसैन "यास" अज़ीमाबादी (पटना का एक नाम) लिखते थे। यगाना सन् 1905 में लखनऊ आये थे। उनको लखनऊ के मिर्ज़ा मोहम्मद शफ़ी की बेटी ब्याही थी इसलिए वह अपने आपको शहर का दामाद समझते थे। लखनऊ में वह नवल किशोर प्रेस में सेवारत रहे और नश्तरे "यास" नाम से उनका पहला गज़ल संग्रह प्रकाशित हुआ। उस समय उनका पूरा नाम यगाना यास चंगेजी अजीमाबादी था। 'यगाना' का अर्थ ही था एक अकेला अद्वितीय।

यगाना फसादी किस्म के शायर थे जो शोहरत के लिए अजीबोगरीब रास्ते निकालते थे सबसे पहला काम उन्होंने यह किया कि उस दौर में जो यहाँ की अन्जुमन थी उसके तीनों मशहूर शायरों सफ़ी लखनवी, साक़िब लखनवी और अज़ीज़ लखनवी की धज्जियाँ उड़ाना शुरू कर दिया। अजीज लखनवी के खिलाफ उन्होंने शोहरत ए काजिबा (झूठी) उर्फ 'खुराफाते अजीज़' लिखी जो बड़ी सख्त जुबान में थी। इसके बाद साकिब लखनवी पर हजो (किसी की बुराई

की प्रचार पुस्तक) लिखी। जो फारसी में फिरदौसी के "शाहनामा" की शैली में थी। ये किताब उन्होंने 'आस' नाम से लिखी थी। यह हजो चौक में बाँटी गयी थी। इन सबके नतीजे यह हुए कि लोग यगाना के नाम से कतराते थे और मुशायरों में इनको नहीं पूछते थे, यहाँ तक कि कानपुर में एक कॉफ्रेस में यगाना का नाम ले लिया गया तो लोग उबल पड़े थे, लेकिन लखनऊ के हर मुशायरे में वो बिन बुलाये पहले से हाज़िर हो जाते थे, ये कहते हुए कि–

लखनऊ की जात से, दो दो हैं सेहरे, मेरे सर
एक तो उस्तादे यगाना, दूसरे दामाद हूँ

ये कारनामा ठण्डा पड़ा तो उन्होंने जिगर मुरादाबादी जोश मलिहाबादी, असग़र गोंडवी, और फ़ानी बदायूँनी पर छींटे कसने शुरू किये और जाहिर है कि इससे लोग फिर उनकी तरफ मुखातिब होने लगे। यही नहीं प्रेमचंद जैसे अनेक दिग्गज साहित्यकारों द्वारा स्थापित "प्रगतिशील मंच" के खिलाफ भी यगाना ने कुछ कहने में कसर न छोड़ी। उसे "अदबे ख़बीस" लिखकर उन सबके चिथड़े उड़ा दिये और जब कि जोश मलिहाबादी तथा सरदार जाफ़री साहब अक्सर उनकी मदद किया करते थे तथा उनके काव्य कौशल का लोहा भी मानते थे। यगाना का एक शेर मशहूर था और जोश साहब को बहुत पंसद था।

हर शाम हुई सुबह को, एक ख्वाबे फरामोश
दुनिया यही दुनिया है, तो क्या याद रहेगी।

इस शेर के नीचे वाला मिसरा जोश मलिहाबादी को इस कदर पसन्द आया कि उन्होंने फिल्म "मन का मीत" के एक गीत में इसका इस्तेमाल कर दिया और वो गाना ये है–

नगरी मेरी कब तक, यूँ ही बरबाद रहेगी
दुनिया, यही दुनिया है, तो क्या याद रहेगी

यगाना। चंगेजी चाय के बहुत शौकीन थे और पासिंग शो सिगरेट बड़ी तादाद में पीते थे। इतनी कि ऐशट्रे की जगह बाल्टी रखते थे। वो सिगरेट की डिब्बी के खोल पर शेर लिखने के आदी थे। कुछ दिन यूँ ही बीत गये तो उन्होंने एक नयी करवट ली उन्होंने मिर्ज़ा गालिब और डॉ. इकबाल पर फ़िकरे कसने शुरू कर दिये। इस बात ने तो बड़ा बवाला खड़ा कर दिया। ये लोगों के बरदाश्त के बाहर की बात थी। तमाम लोगों ने यगाना का सामाजिक बहिष्कार करना चाहा। प्रोफ़ेसर सैयद मसूद हसन रिज़वी (अदीब साहब) यगाना को खूब अच्छी तरह जानते थे, पहचानते थे, लेकिन उनकी उल–जलूल हरकतों से परेशान रहते थे। यगाना ने अपनी सफ़ाई में अदीब साहब को पच्चीस पेज का एक ख़त लिखा था जिसमें उन्होंने तरतीब से ग़ालिब की खिलाफ़त की थी कि गालिब इतने अच्छे शायर नहीं थे जितना उन्हें बढ़ा चढ़ा दिया गया इसलिए हम गालिब से ज्यादा गलीबचियों (ग़ालिब प्रशंसकों) के दुश्मन हैं। आखिर सारे शायरों के हक़ छीन कर ग़ालिब को क्यों दे दिये गये। मिर्ज़ा गालिब किसी भी तरह से अच्छे इन्सान नहीं थे, वो शराबी थे, जुआरी थे और बदचलन भी थे, वतन परस्ती उन्हें छू तक नहीं गयी थी। जब सारा मुल्क एक होकर अंग्रेजों से मोर्चा ले रहा था उस समय जनाब गालिब कम्पनी बहादुर की खुशामद में जुटे हुये थे। पेंशन के लिए कलकत्ते की दौड़ लगा रहे थे। इस प्रकरण की उन्होंने बारह रूबाईयाँ भी लिख कर भेजी थीं। उनमें से दो नमूने पेश है :–

खासा न सही बला से, खुरचन है बहुत
तन ढकने को साहब की , उतरन है बहुत
रंगून में दम तोड़ता है, शाहे जफ़र
''नौशा'' के लिए खिलअते, पेंशन है बहुत
(नौशा गालिब का एक नाम)

x x x

तलवार से कुछ काम, न खांडे से गरज़

मोमिन से सरोकार, न टांडे से गरज

दिल्ली की सल्तनत गई, ठेंगे से अपने

गालिब को है हलवे, माँडे से गरज

"ग़ालिब शिकन–दो आतशा" नाम से उनकी एक किताब छपी थी। जाहिर है कि दो आतशा कह कर उन्होंने दोहरी धार का खंजर इस्तेमाल किया था। दो आतशा उस शराब को कहते हैं जो दो बार भट्टी चढ़ती है और जिसके नशे की तेज़ी मशहूर होती है।

ग़ालिब क्या शायर है, शायर तो यगाना है यही उनकी हर सांस से निकलता था। ग़ालिब की मशहूर गज़लों की ज़मीन पर यगाना ने खूब गज़लें कही हैं जैसे मिर्ज़ा गालिब की मशहूर गज़ल "दिल ही तो है' पर उनकी ये गज़ल–

आह ये बन्द ए ग़रीब–आप से लौ लगाए क्यूँ

आ न सके जो वक़्त पर–वक़्त पे याद आए क्यूँ

अपनी अवहेलना उन्हें कतई बरदाश्त नहीं थी। पब्लिक को चौंकाने के लिए महफिल में वो सिपाहियाने तेवर में दाखिल होते थे। खैर यहाँ तक फिर गनीमत रहा। गजब तो तब हुआ जब उन्होंने अपना पुराना हथियार अपने मजहब पर चलाना शुरू किया और उस पर पूरे के पूरे दफ्तर तैयार किये। इसके लिए जो सितम सिकन्दर लोदी ने कबीर पर किये थे वो यगाना पर होने लगे इसलिए लोग उन्हें लखनऊ का कबीर कहने लगे थे। उनके मशहूर अशआर हैं–

बुतों को देख के सबने खुदा को पहचाना

खुदा के घर तो कोई बन्दए खुदा न गया

x x x x

समझ में ही नहीं आता, पढ़े जाने से क्या हासिल

नमाजों के हैं कुछ मानी, तो परदेसी जबाँ क्यूँ है

यगाना इस्लाम तक ही नहीं ठहरे, अपने ढंग की बेतुकी रूबाइयाँ रसूले अकरम (स.अ.) पर भी कहने लगे और सच है कि अब ये पानी सर से ऊपर था। इसके नतीजे पर उन्हें लखनऊ की विक्टोरिया स्ट्रीट (नक्खास) से गधे पर बिठा कर मुँह काला करके निकाला गया और बड़े बीच बराव के बाद उन्हें छोड़ा गया।

अपनी इस दुर्गति (गधे की सवारी) पर भी वो नाजां थे कि जो सुलूक मेरे साथ हुआ वो किसी शायर को मयस्सर नहीं हुआ सिर्फ हजरत ईसा के साथ हुआ था।

फख्र का एक महल ये भी हैं– राजा मेंहदी अली खाँ की मशहूर नज्म–

"शायरी पे भी हैं लड़कों के क्या–क्या एहसानात" के मुताबिक उन्हें यूनानी अथवा पठानी शौक़ का इल्जाम भी दिया गया, लेकिन उससे उनको कोई फर्क़ नहीं था। एक ख़त में इसके लिए उनका एक ही जवाब काफी था।

"माई डियर सलामे शौक, सुना है कि अमरद बच्चों (अर्थात उपयोग में आए हुए लड़कों) ने कुछ मेरे खिलाफ़ लिखा है"। उन्होंने लड़कों की आशनाई के लिए अपनी ही क़ौम पर तोहमद लगायी है ये कह कर कि–

जिस क़ौम में है, चार बीबियों की इजाजत
उस कौम ने, इग्लाम की 'जाँ खोद' के रख दी

(इग्लाम का अर्थ सोडोमी है और आगे के ये दो शब्द अपने तरीके से पढ़ लिए जाएं)

जिन्दगी के एक मोड़ पर पहुंच कर, उन्होंने अपनी पटने वाली पहचान अज़ीमाबादी से इंकार कर दिया था और मिर्ज़ा यगाना

चंगेजी लखनवी लिखने लगे थे जिसके वास्ते उनकी दलील एक इस एक शेर में दर्ज है–

यारानेे चमन रंगो बू मुझ से है
तुम क्या होगे, लखनऊ मुझसे है

लखनऊ के लिए वो एक ज़लज़ला जरूर थे, लेकिन योग्यता में कहीं से कुछ कम नहीं पड़ते थे। उनके इस शेर पर कौन भला न आशिक होगा–

जामा जेबों पे कफन ने भी दिया वो जोबन
दौड़ कर सबने कलेजे से लगाना चाहा

दिल्ली के सुप्रसिद्ध विद्वान और शायर बनारसी दास "शोला" उनके आजीवन मददगार रहे। यगाना की लड़ाई लेखकों से कभी नहीं रही सिर्फ शायरों पर ही वो तीर तलवार चलाते रहे। लखनऊ में बेखुद मोहानी जी ने जो अदबी अंजुमन कायम की थी उसके सेक्रेटरी यगाना थे। इस तरह अदीब साहब, बेखुद और यगाना तीनों एक दूसरे के जिगरी दोस्त थे। धीरे–धीरे बेखुद मोहानी, यगाना से बेदिल हो गये क्यों कि वो ग़ालिब को मानते थे और ग़ालिब की इतनी बुराई उनसे नहीं सुनी गयी। अब बचे प्रोफेसर मसूद हसन रिजवी "अदीब" साहब। अदीब साहब इतने उदार आदमी थे कि उनके दरवाज़े सब पर खुले थे। हर तरफ से लौटकर यगाना अदीब साहब की कोठी अदबिस्तान में पनाह लेने की गरज़ से आए और यहीं लॉन में एक क्वाटर में रहने लगे थे। यगाना का परिवार उनको छोड़कर पाकिस्तान चला जा चुका था। उन्हें लखनऊ प्यारा था उन्होंने लखनऊ कभी नहीं छोड़ा।

अदीब साहब की ये तरफ़दारी देख कर बेखुद साहब कुछ खुश नहीं हुए बल्कि अदीब साहब से भी बदल गए। नतीजा ये हुआ कि जो पहले एक थे वो तीनों अब एक दूसरे के दुश्मन हो गये थे, लेकिन दिलचस्प बात यह है कि ये तीनों नामदार लोग "मुंशी फजले हुसैन

खाँ की करबला'' में ही आसपास दफन हैं और वहाँ जाकर फिर तीनों एक हो गए। उसी तरह जिस तरह इस शेर में है—

मस्जिदो, दैरो, कलीसा न कभी एक हुए

तेरे दरबार में पहुँचे तो सभी एक हुए

यगाना पर डाक्टर नैयर मसूद साहब ने मिर्ज़ा यगाना अहवाल ओ आसार किताब लिखी है। पाकिस्तान की एक मशहूर मैगज़ीन ''नुकूश'' के एडीटर भी डॉ. नैयर साहब के पिता स्व. अदीब साहब से मिलने लखनऊ आये थे क्योंकि वहाँ उन पर बहुत काम हुआ है। वहाँ 'मुश्फ़िक ख्वाजा' ने कई बरस की मेहनत के बाद उन का कुल कलाम जमा किया है।

यगाना ने नक्खास चौराहे से लगे हुए मुहल्ले शाहगंज में 4 फरवरी, 1956 को आखिरी सांस ली और उन्हें होशियारी के साथ चुपचुपाते हैदरगंज वाली कर्बला में सुपुर्दे खाक कर दिया गया।इससे पहले कि कोई बवाल उठ खड़ा हो। बाद में उनकी बेटी मरियम जहाँ साहिबा जब पूना से आयीं तो उन्होंने ही उनकी कब्र पक्की करवाई, जिस पर ये शेर लिखा है—

खुद परस्ती कीजिए, य हक़ परस्ती कीजिए

आह किस दिन के लिए, नाहक़ परस्ती कीजिए

और यही शेर उनकी पुस्तक 'ग़ालिब शिकन' के मुख्य पृष्ठ पर भी अंकित है।

□□

रेख़्ती के जलवे

अवध के दूसरे बादशाह नसीरूद्दीन हैदर का सारा जीवन विलासिता के घने साये में बीता था। उनको तमाम तरह के शौक़ थे। चाहे वो देशी हों या विदेशी। उनके दरबार के चोंचले, हरम की सरगर्मियां और मुसाहिबों की चालबाजियां बहुत दिलचस्प हैं। उसी सिलसिले में एक क़िस्सा यहां बयान किया जा रहा है। नवाब बड़े नाजुक मिजाज़ थे। वह किसी तरह की सर्दी, गर्मी या भूख–प्यास बर्दाश्त नहीं कर सकते थे इसलिये रोज़ेदारी से दूर रहते थे। एक साल रमज़ान के महीने में किसी मौलाना के कहने पर उन्होंने रोजा रखने का क़ौल किया। सहरी के बाद अभी डेढ़ पहर ही बीता था कि नवाब भूख प्यास से बेचैन होने लगे। यही नहीं उनकी तबियत भी बिगड़ने लगी। यह खबर लगते ही चारो तरफ महल में हलचल मच गई और फिर ये खबर उनके खास मुसाहिब 'जान साहब' तक भी पहुंच गई। इस बात के पहुंचते ही जान साहब बारह गज़ का गिरन्ट का लगा टंका पैजामा पहन कर और उस पर लचके पट्ठेदार दुपट्टा ओढ़ कर सुलतानी ड्योढ़ी पर आ पहुंचे। पीनस से उतर कर सीधे बादशाह के गोशेखाने में दाखिल हुये और फिर किसकी मजाल थी जो उन्हें रास्ते में रोक टोक लेता। उन्होंने अपने बादशाह का जब ये हाल देखा तो फौरन चटाचट बलायें लीं और फिर ये कहा–

"मैं न कहती थी कि न रख, मैं तेरे वारी, रोज़ा
बन्दी रख लेगी, तेरे बदले, उज़ारी रोज़ा।"

ये लचकदार शेर रेख़्ती में कहे गये तमाम शेरों में बेमिसाल है।

जान साहब का पूरा नाम था मीर यारअली उर्फ 'जान साहब' ये लखनऊ के रूस्तमनगर मोहल्ले में रहते थे। बाद में अहाता संगीबेग में भी रहे हैं।

जान साहब की रेख़्ती का एक नमूना यहां और पेश है–

''गीली सूखी दोनों जलती हैं बुआ, सरकार में
बी उजाली नित रहा, अंधेरे हर दरबार में
झाड़ू बीबी की फिरे, हो जाए घर बैरी का साफ
कौड़ी कौड़ी भीख मांगे वो मुआ बाजार में।''

रेख्ती– उर्दू ज़बान और शायरी के इतिहास में एक ज़नाना खेमा है जिसकी धूम ये रही कि इस रंग का सारा विकास बंद चहार–दीवारी में हुआ। महलों की ये लगी लिपटी, चटपटी ज़बान अपने आपस में दिलजोई के लिये बोली जाती थी जिसमें औरतों के आस–पास की पूरी ज़िंदगी, पूरा माहौल दर्ज रहता था। बेगमात से भी बढ़कर उनकी ख़ादिमाएं इस फ़न में माहिर हुई और यही वजह है कि उसके सारे मुहावरे, उनकी अपनी ईजाद थे। जैसे कोई किसी से अपना दुखड़ा यूँ कहती... 'ऐ बीबी जो दिन देख लिए सो देख लिये अबतो आठ–आठ आंसू रोना है, सारी उम्र।'' या फिर कोई किसी पे फिदा हो जाती तो कुछ इस तरह... ''बन्नो मैं तो अपनी जान आपकी एड़ी चोटी पर से वारू।'' नौकरानियां महल की बेगमों पर छींटाकशी करते हुए आपस में हंसती रहतीं। ''ये तो महल है जहां सौतनों में तो यूँ ही अण्डोई बण्डोई चलती रहती है।'' कभी–कभी तो कोई बात ऐसे लपेट के कही जाती... 'ऐ लो काहे की ढोलक और कहां के सोहर अभी कल ही तो बेनमाज़ हुई हैं।'

ये भाषा जो अक्सर मर्दों के कानों से टकराती थी उन्हें कुछ ऐसी भायी कि अच्छे–अच्छे शायर रेख़्ती में शेर कहने के ख्वाहिशमन्द हो गये।

रेख़्ती के दो अर्थ भी होते हैं एक तो ख़ालिस स्त्रियों की बल खाई हुई बोली और दूसरे नर्म नाजुक ज़बान, जिसके लिये मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ गालिबने कह दिया है–

रेख़्ती के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब
सुनते हैं अगले ज़माने में कोई मीर भी था।

खैर, जो भी हो झिलमिले झूमर और लचके लगे दुपट्टे से सजी इस ज़बान के पहले रचनाकार हाशिमी बुरहानपुरी ही माने गए हैं। इसके बाद इसका सफर दिल्ली से लखनऊ और फिर रामपुर तक हुआ। तारीखी किताबों ने रेख़्ती के लिए कोई अच्छी राय नहीं रखी है, जिसका एक ख़ाका पेश है –

"मीर हसन ने अपनी मसनवी में जरूरत के मौकों पर यह ज़बान मौजू की थी मगर वहां तक मुज़ायका न था। मियां रंगीन ने मुस्तक़िल तौर पर इस रंग को इख़्तियार किया जो देहली के रहने वाले थे और लखनऊ की सोहबत में शरीक रहा करते थे। एक किस्सा कहा है और उस मसनवी का नाम दिलपज़ीर रखा हैं रंडियों की बोली उसमें बांधी है। मीर हसन पर ज़हर खाया है। हर चन्द उस मरहूम को भी कुछ शऊर न था, बदरे मुनीर की मसनवी नहीं कही गोया सांडे का तेल बेचते हैं। भला इसको शेर क्यों कर कहिये। सारे लोग दिल्ली, लखनऊ के, और रंडी से लेकर मर्द तक पढ़ते हैं।"

चली वां से दामन उड़ाती हुई
कड़े से कड़े को बजाती हुयी।

सो उस बेचारे 'रंगीन' ने भी इसी तौर पर किस्सा कहा है– कोई पूछे कि भाई तेरा बाप रिसालदार मुसल्लम लेकिन बेचारा बर्छी भाले का हिलाने वाला, तेगों को चलाने वाला था, तू ऐसा क़ाबिल कहाँ से हुआ ? और शुहदापन रंडीबाजी से आगया है तो रीख़्त कें तंई छोड़कर एक रीख़्ती ईजाद की है। इस वास्ते कि भले आदमियों की बहू–बेटियां पढ़कर मुश्ताक हों, और उनके साथ अपना मुंह काला करें भला यह कलाम क्या है–

जरा घर को रंगीके तहक़ीक कर लो
यहां से है कै पैसे डोली कहारों

मर्द होकर कहता है, "कहीं ऐसा नहीं कि कम्बख्त मै मारी

जाऊँ। और एक किताब बनाई हैं उसमें रंडियों की बोली लिखी है। जिसमें ऊपरवालियां, चीलें, ऊपर वाला चांद, उजली धोबन वग़ैरा–वग़ैरा लफ़्ज़, फ़ोहश इशारों के लिए इस्तेमाल किए गए हैं।"

रंगीन की रंगदारी (1757–1835)

सादतयार खाँ रंगीं को ही सही मायने में रेख़्ती का आविष्कारक माना जाता है। ये दिल्ली के तुहमासिपबेग खाँ तूरानी के बेटे थे। रंगीन की नौरतन किताबों में एक दीवान रेख़्ती का भी है इसमें कामुकता और मनोरंजन का मिला जुला प्रयोग मिलता है।

लिए फिरती है हथेली पे फ़लानी बांदी
होय ग़ारत कहीं ये तेरी जवानी, बांदी।

उनके कलाम में बोलचाल और अन्दाज़ के ऐतबार से दिल्ली का ही रंग बढ़–चढ़ कर बोलता है। जिसके बारे में उन्होंने खुद मंजूर किया है कि दिल्ली की बेगमात की ज़बान हमने इस्तेमाल की। उनका ये रंग यहां मौजूद है–

भाता नहीं है मुझको गंवारी ईजारबन्द
जाकर अरी वो लच्छे का ला, री ईज़ारबन्द
जाता है फूलवालों के मेले में वो ज़िया
चम्पा का मैं वो पहनूंगी भारी ईज़ारबन्द।
रंगीं क़सम है तेरी कि मेले में हो के सर
मत खोल कर के मिन्नतों ज़ारी ईज़ार बन्द

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब सल्तनते अवध के हाकिम नवाब सआदतअली खाँ थे। रंगीं साहब दिल्ली से घोड़े लाकर लखनऊ में बेचा करते थे। बाद में उन्होंने लखनऊ में ही सुलेमां शिकोह के दरबार में नौकरी कर ली। घोड़ों की इस तिजारत में ही उनकी दोस्ती मशहूर शायर और अदीब इंशा अल्ला खाँ 'इंशा' से हो गई थी। 'इंशा' ने ही हिन्दी कहानी की प्रारम्भिक कहानियों में से

एक 'रानी केतकी की कहानी' लिखी थी। मशहूर मर्सियागो मिर्ज़ा दबीर 'इंशा' के दामाद थे।

नवाब की ड्योढ़ी पर 'इंशा' की अच्छी इज्ज़त थी ये नामी लतीफ़ेबाज थे और अक्सर नवाब को लतीफ़े सुनाया करते थे। एक बार ग़लती से नवाब के लिये इनके मुंह से असामी की औलाद फ़िकरा निकल गया और इस बात पर नवाब बिल्कुल आग हो गए और उन्होंने 'इंशा' को उनके ही घर में नज़रबन्द करवा दिया, फिर इनकी मजाल नहीं थी कि वो नखास की शहंशाह मंजिल वाली मस्जिद से बाहर निकल लेते क्योंकि यही उनका निवास स्थान था। इसी आलम में एक बार 'रंगी' उनसे मिलने गए और शरारतन उनसे कहा कि इस नए मौसम की कोई चीज़ लाकर खिलाओं। जब उन्हें उठते निकलते नहीं देखा तो कह दिया कि हमें सब मालूम है छिपाते क्यों हो कि हम न जानें।" इनकी ही सोहबत में 'इंशा' ने भी रेख़्ती में कुछ कहना शुरू किया था।

आग लेने को जो आई, तो गई आग लगा

बीबी हमसाई ने दी, मेरे जी में आग लगा।

मशहूर है इंशा की नवासी जाने आलम पर आशिक़ हो गई थी। यही 'इंशा' मरने के बाद नई सब्जी मण्डी चौक के पास आग़ा बाक़र के इमामबाड़े में अन्दर दफ़न किए गए हैं।

जान साहब और लाल साहब

रंगी के बाद रेख़्ती की गज़लगोई जान साहब के ही हिस्से में आई थी। जान साहब का तो पूरा का पूरा रेख़्ती का स्कूल ही था और शहर में उनके तमाम शार्गिद भी थे। उनके खास शार्गिदों में 'बेचैन' का नाम बहुत है, उनका ही शेर है--

जान साहब का ये शार्गिद है 'बेचैन', बुआ।

रेख़्ती कहता है, दे दाद सुखन दाद कोई।।

रेख़्ती का कारवां दो सदी सफ़र पर रहा है अब ये बात और है कि उसकी रफ़्तार वो नहीं रही जो उसके प्रारम्भिक दौर में थी। रंगी और जान साहब के बाद लखनऊ में अगर किसी का नाम इस सिलसिले में सबसे पहले याद आता है तो वो है लाल साहब का नाम। अवध के तीसरे बादशाह मुहम्मद अली शाह की बेगम मलका जहां की नौकरी में थे, लाल साहब। लाल साहब रेख़्ती के बहुत बड़े सुखनवर थे। उनकी अपनी एक अलग शख़्सियत थी। एक पहचान ये भी कि जबकभी रेख़्ती मुशायरों में पढ़ने के लिये आते थे तो नवाब मलका जहां की उतरन पहन कर आते थे। मलका जहां के उतारे हुए बेशकीमती जोड़े लाल साहब की पोशाक बनते थे और लोग उन्हें इसी लिबास में देखने और पाने के उम्मीदवार होते थे। म़हफिल में वो झूमर दुपट्टे को लिए दिए फिर नौ मन नख़रा सम्हालते हुए तशरीफ लाते थे।

ब्याह के लाई बहू, नेग जो दूं थोड़ा है

किसी खुशी का है ये, आज का दिन, आज की रात

तीसरे दिन नहीं जाते हैं, किसी के घर से

और रह जाओ बुआ, आज का दिन, आज की रात।

रेख़्ती की महफिलों में सिर्फ स्त्रियोचित वाक्विलास, बोलचाल के अन्दाज़ और मुहावरेंदार ज़बान का ही विषय नहीं रहता था कभी कभी शहर के हालात की नब्ज भी उनके हाथ आ जाती थी—

कांपती हैं डर से, गायों की तरह सब रण्डियां

सदर का हाकिम हुआ है, मरदुआ क़स्साब अब

ऐसी बहिया आई, ऐ महताब रु तू मुझसे सुन

मिल गया दरिया में, सूरज कुण्ड का तालाब अब

या फिर परिवार में अपने फर्ज़ को तरजीह देकर उन्होंने यहां तक कह डाला है–

नाराज़गी से जाते हो, होगा न हज कुबूल

मां ज़ार ज़ार रोती है, और ज़ार ज़ार बाप।

नवाब वाजिद अली शाह की एक बेगम भी "रश्के महल" नाम से रेख़्ती में शेर कहती थीं–

जो कि तक़दीर का लिखा था, वो हुआ बाजी

काम आया कोई गन्डा, न किसी का ताबीज़।

20वीं सदी में रेख़्ती –

लखनऊ में रेख़्ती की ये रवायत बाकायदा बीसवीं सदी के मध्य तक चलती रही जिसमें मलकए इंग्लिशिया (महारानी विक्टोरिया) के ज़माने के लोगों का तर्ज़ वही पुराना रहता था जैसा कि "नाजुक" का ये शेर है–

बेटों वाली, पोतों वाली

हाथों में छल्ले कानों में बाली

दांतों में मिस्सी, आंखों में सुरमा

माथे पे अफ्शां, होठों पे लाली।

और तो और लखनऊ की मीठी ज़बान के नामवर शायर अमीर मीनाई भी आखिर इस ऐबदारी के हिस्सेदार हो ही गए जब उन्होंने ये शेर कहा–

'तख़्त की रात' ये दूल्हे ने कहा दुलहन से
देखें अच्छी है हमारी कि तुम्हारी, मेंहदी।

(तख्त की रात–सुहागरात)

यहां ये याद रहे कि उस वक़्त लड़की लड़कों की शादी

कमसिनी में होती थी।

अच्छे शायरों और शरीफों में इस बात का दुख हमेशा रहा कि रेख़्ती के जुबान को चाहे किसी हद तक फ़ायदा हुआ हो मगर अख़्लाक को इससे बड़ा नुकसान पहुंचा है।

लेकिन धीरे–धीरे इसमें चुटकियों पर जोर दिया जाने लगा इसके लिए अक्सर एक तमसीली मुशायरे हुआ करते थे जिसमें हुसैनगंज के हबीबभाई कामदानी का दुपट्टा डाल कर ऐसे गुदगुदाने वाले शेर कहते थे –

मना करती रहीं बाजी, न ताको छोटे देवर को
मगर मैं भी कहाँ कम थी, न जब ताका, तो अब ताका।

महफिलों में इसी ताका झांकी का मज़ा ले– लेकर शेर पढ़े जाते, और जिसमें झिलमिलाता हुआ दुपट्टा और सोने में सुहागा करता–

ताका झांकी किया करते हैं, ऐ बाज़ी छुप कर
दूल्हा भाई बड़े होशियार, नज़र आते हैं।

अब लखनऊ में रेख़्ती का काफिला आखिरी सांस तक पहुंच गया है। बहुत कम लोग रह गये हैं जो रेख़्ती पढ़ें या सुनें या इस बारे में जानें। और ये शेर उसी सफर का एक अंतिम पड़ाव मालूम होता है–

मेरी सूरत ही ऐसी है, जो सब तारीफ़ करते हैं
नहीं कुछ इसमें है, एहसान, अम्मां का और अब्बा का।

❑❑

मुजरे के दर्पण में लखनऊ

लखनऊ दौलते इन्सानियत के सन्दर्भ में शायद सबसे ज्यादा मालामाल शहर है। उसके पास है मेल जोल की सुन्दर सीख, जीवन की कड़ुवाहट में मिठास लाने का बेहतरीन हुनर और कला के इन्द्रधनुषी रंग से रंगे हुए कुछ यादगार सुन्दर पल। कुछ न होने पर भी कुछ न कुछ को अपने अन्दर क़ायम रखना यहां की तालीम रही है। इस शहर ने सोने के तारों से या चांदी की चादरों पर नहीं, कच्चे सूत के धागों से मलमल पर बनाई गई चिकन जैसी बेहतरीन और नाज़ुक दस्तकारी से दुनिया को चौंका दिया है।

लखनऊ सिर्फ देखने सुनने की चीज़ नहीं है ये तो बाक़ायदा महसूस किये जाने के लिए है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्सान के मन ओर मष्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करता है इन्सान का सलीक़ा जो कि लखनऊ की जिन्दगी में हमेशा से बहुत था और आज भी कुछ कम नहीं है।

शामें अवध के नाम से मशहूर लखनऊ की रंग भरी शामें सिर्फ बाग़ बगीचे में चहलकदमी का नाम नहीं या फिर यहां की बेल बांकड़ीदार गगन रेखा के पीछे गोमती पर डूबते हुए सूरज के नज़ारे का जलवा ही नहीं है, दरअस्ल यहां के कोठों की रंगीन शामें भी उस शामें अवध का प्रमुख आकर्षण रही हैं और उनके साथ है यहां होने वाले मुज़रों का सिलसिला, वो स्वप्निल बहारों के रौनक भरे ज़माने।

मुजरा का शाब्दिक अर्थ है सादर प्रणाम या फिर साज़ो रक्स की दिलकश पेशकश। वैसे जो विशेष आशय मुजरा शब्द से जुड़ा है वो है किसी गाने वाली या नाचने वाली का मर्दो की महफिल में कला का सुन्दर प्रदर्शन। ये सच है कि मुजरे का स्वरूप कुछ भी हो इसमें कला पक्ष प्रधान होता है। हमारे देश की ललित कलायें प्राचीन समय में मन्दिर प्रांगण से सम्बन्धित रहा क़रती थीं। कालान्तर में देश की

संस्कृति पर आक्रमण होने के समय वो अलग–अलग खेमों में चली गई। उनमें गायन और नृत्य आदि कलाएं राज दरबारों में पहुंच गई और फिर बादशाहतों के डेरे भी उजड़ चले तो ये सारे हुनर वेश्याओं के कोठों पर जाकर बस गए। जहां सदियों तक उनकी परवरिश होती रही। मुजरा कोठों पर ही पैदा होने वाला एक परम्परागत प्रदर्शन है जिसमें गीत और संगीत के साथ–साथ लोगों का रसिक मनोरंजन भी किया जाता है।

ऐसे में नृत्यांगना जो तवायफ़ कही जाती है एक दायरे में बराबर घूम–घूम कर नाचती भी है। यह प्रदर्शन जीवन जीने की कला का दार्शनिक प्रतीक भी है क्योंकि इसमें कलाकार दर्शकों से बराबर की दूरी और बराबर का नाता बनाए रखता है। मुजरे की संस्कृति बड़ी मोहिनी संस्कृति है कला की अभिव्यक्ति यहां बड़े सुकोमल ढंग से की जाती है। रूप, यौवन, मिलन, विछोह, श्रृंगार, मनुहार, इशारा, छेड़छाड़ जैसे रूमानी मधुर विषय मुजरे के ख़ास तत्व हैं। गीत नृत्य संगीत का ये मिला जुला प्रदर्शन, अनुकूल हाव–भाव और मुहब्बत भरी नजरों के साथ कुछ ऐसे अन्दाज में पेश किया ज़ाता है कि देखने वालों के दिल पर इसका बड़ा जादू भरा असर होता है। कत्थक नृत्य की कमनीयता भी मुजरे में शामिल रहती हैं। इस नृत्य शैली में गीतों की बड़ी विविधता रहती है। प्रणय गीतों, गज़लों के अलावा ठुमरी, दादरा या फिर कजरी होरी, चैती, खेमटा, नक़टा पूर्वी जैसे लोक गीत मुजरे में गाये जाते हैं जिनका नकटा पूर्वी व्यवहार आंचलिक लोगों की अभिरुचि के अनुकूल होता है और जिससे सब के सब बंधे रहते है। लखनऊ का ही शेर है–

जब तलक़ पढ़ न लूं मैं अपनी मुहब्बत की नमाज़
अपनी अंगड़ाई की मेहराब बनाए रखिए

मुजरों के ठिकानों वाले कमरे, झाड़फानूसों, कुमकुमे, कन्दीलों हांडियों से सजे रहते थे। कमरों की दीवारें खुशनुमा तस्वीरों, बड़े–बड़े आईनों और दीवार गीरियों से आरास्ता रहती थीं। फर्श पर

क़ीमती कालीन बिछे होते थे जिनके साथ चांदनी पर मखमली गाव तकिए लगवाए जाते थे। कहीं कहीं बिल्लौरी रंगीन फानूस वाले शमा दान भी रखे रहते थे। इस महफिल में मेहमानों की खातिरदारी के लिए पानदान, खासदान, गिलौरीदान, फूलदान, इत्रदान, हुक्के पेचवान के साथ चांदी की तश्तरियों का इन्तज़ाम भी रहा करता था। यहां गाने नाचने वालियों के अलावा अपने–अपने साज़ों के साथ बैठे साजिन्दों की बैठक रहती थी और साथ ही साथ मेहमान नवाज़ी के लिए कुछ लोग भी तैनात कर दिए जाते थे। सारा का सारा वातावरण अगरलोबान से मुअत्तर रहता ही था उस पर से गुलाब टंके मोतिया, बेला, चमेली, जूही, मोगरा, कुन्द, नेवारी के गजरे अंजुमन को रश्के जन्नत (स्वर्ग भी जिससे ईर्ष्यालु हो) बनाए रखते थे।

'कदीम' लखनऊ की आखिरी बहार में मिर्ज़ा जाफ़र हुसैन, साहब ने लखनऊ की तवायफ़ों की तारीफ़ में कहा है कि महाराजा महमूदाबाद के साहबज़ादे की शादी में माहे मुनीर (बचवा) ने गौहर जान की नामी पिशवाज पहनी थी और मिर्ज़ा ग़ालिब की गज़ल का एक मिसरा

'मेरे दिल से कोई पूछे, तेरे तीरे नीम कश को'

३६ बार गाया था और हर बार नए अन्दाज़, नए भाव से प्रस्तुत किया। मुजरों की महफ़िलों से सजे कोठे तहजीब के घराने हुआ करते थे। जहां बड़े–बड़े नवाबजादे, ताल्लुकेदारों के बेटे और लाट साहब के लड़के शऊर सलीका या तौर तरीका सीखने के लिए भेजे जाते थे।

मुजरे में अभद्र व्यवहार का कोई चलन नहीं रहा है, हां हौसला अफ़जाई के लिए बीच–बीच में कुछ इनाम या रुपये पुरस्कार स्वरूप देते रहने की परम्परा इस प्रोग्राम की प्रमुख आवश्यकता होती थी। ये रकम रईस लोग पानदान या तश्तरियों में रख दिया करते थे अब ये बात और है कि दलालों की दोहरी कमायी होती थी।

लखनऊ चौक की चांदनी

उत्तर मध्य काल में लखनऊ का चौक अपनी गुलज़ार बाज़ारों के लिए ही नहीं, नाच गाने और मुजरों के घरानों के लिए भी बहुत प्रसिद्ध रहा है। चौक ठण्डी सड़क के आसपास शाहगंज, बिल्लोचपुरा, कंघीवाली गली, चावलवाली गली, बजाज़ा, टक्साल, सराय, बांस, मेवे वाली सराय, हिरन बाग़ वगैरह इलाकों में तमाम तवायफें रहती थी। अमीनाबाद में गन्नेवाली गली, भूसामण्ड़ी और नएगांव के आस–पास तवायफ़े रहती थीं।

लखनऊ के नवाबी दौर में सुन्दरी, उजागर, मुन्नी बेगम, मोती, सोना, पियाजू, महबूबन और हुसैनी डोमनी नाम की प्रसिद्ध तवायफें हुई हैं। चूने वाली हैदरी, हुसैन बांदी और कनीज़जान के इमामबाड़े आज न होकर भी मशहूर है इससे उनकी हैसियत और शोहरत का अन्दाजा लगता है। चौक में डोमिनियां, कंचनिया, डेरेदार तवायफ़ें पतुरियां आदि सभी स्तर की पेशेवर नाचने वालियां या रण्डिया रहा करती थीं। बचुवा और नन्हुवा दो बहनें बड़ी चौधराइन तथा छोटी चौधराइन के नाम से जानी जाती थीं ये लोग महाराज बिन्दादीन से कथक की तालीम लेती थीं। उनका कोठा चौधराइन का कोठा कहलाता था। ये सारे चौक में सबसे सदर मक़ाम था। उनके ही घराने में रश्के मुनीर और बद्रे मुनीर हुई हैं। लखनऊ की मशहूर तवायफ़ उमराव जान के दौर में ही लखनऊ नवाबी के पांव उखड़े थे और अंग्रेजी हुकूमत अमल में आयी थी।

ब्रिटिश शासन काल में भी लखनऊ में नाच गाने का ये स्कूल बराबर से कायम रहा क्योंकि ये भी माना जाता है कि ग़दर की मुसीबत ने लखनऊ में तवायफों की तादाद बढ़ा दी थी। अल्ला रखी, शमीम बानों और दिलरूबा उस वक्त की बड़ी नामदार तवायफें थी। बाद में अल्ला रखी की बेटी क़मरजहाँ और कनीज़ जान की बेटी बेनज़ीर ने भी खूब–खूब शोहरतें हासिल की, लेकिन मुजरें में "खीरे

वाली मुनीर'' का बड़ा नाम रहा है। इसी दौर में बड़ी जद्दन छोटी जद्दन वहीदन, रेहाना ने भी मुजरा नृत्य शैली का भरपूर विकास किया। नरगिस की माँ जद्दन बाई छोटी जद्दन कही जाती थीं और वो चौक के कोठे पर बहुत दिनों तक मेवे वाली सराय में आबाद रही है। यही पंजाब से लखनऊ मेडिकल कालेज में डाक्टरी पढ़ने के लिए आए हुए एक ऊँचे खानदान के नौजवान से उनकी मुहब्बत हो गई थी और ये थे डॉ. मोहन बाबू। लखनऊ में ही गोमती के किनारे उनका प्रेम परवान चढ़ा और फिर बाद में वो इलाहाबाद चली गई। मोहन बाबू को ही नरगिस का पिता होने का अवसर मिला। यहाँ कहा जाता है कि जद्दन बाई ने ही महफिल में बैठ कर गज़ल या दादरा सुनाने की रीत शुरू की थी नहीं तो पहले तबायफ़ें और भांड़ अपना पूरा कार्यक्रम खड़े–खड़े ही प्रस्तुत करते थे। यहाँ तक कि साजिन्दे भी तबला सारंगी आदि साज़ कमर में फेटे से बांध कर खड़े रहते थे उनका ये अन्दाज लखनऊ में बनाए जाने वाले मिट्टी के खिलौनो के नमूनों में या फिर अंग्रेजों द्वारा आरेखित पुराने चित्रों में आज भी देखने को मिलेगा।

रेहाना जो अपने समय की मशहूर फिल्म ऐक्ट्रेस रही है लखनऊ चौक की ही देन थी। रेहाना के दीवानों की बड़ी–बड़ी दास्ताने है। फिल्मकार पंचोली के साथ रेहाना के प्रगाढ़ सम्बन्ध रहे है उन्होंने ही उसे रोशन सितारे की तरह चमका दिया था। इस चुलबुली शोख़ अन्दाज़ अभिनेत्री का अभिनय आज भी भुलाया नहीं जा सका है जिसने ऐक्ट्रेस, रंगीली, सगाई, खिड़की, बिजली, दिलरूबा, सरगम, सुनहरेदिन, छम छमा छम, नई बात, नतीजा, सम्राट और शिन शिना की बूबलाबू जैसी नामदार फिल्में की है। मशहूर है कि लखनऊ में कभी रेहाना अपने उस्ताद लडडन मिर्जा (''चांदी की कलई के कारखाने वाले'') के साथ तीस रुपये पर अपने कान के बुंदे चौक सर्राफे में गिरवी रख कर बम्बई गई थीं और फिर जो उन्होंने दस बरस बाद आकर छुड़ाए थे। रेहाना ताज़ियादारी भी

करती थीं उनके बम्बई चले जानें के बाद भी यहाँ उनके नाम का ताज़िया उठता था। मशहूर है कि लखनऊ में ही कभी रेहाना का इमाम बाड़ा भी था लेकिन अब उसका कोई पता नहीं है।

प्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री निम्मी जो बरसात, आन, अमर, अंजली, आंधियां, मेहमान, डंका, राजधानी, उड़नखटोला, सोहनी–महिवाल, अंगुलिमाल, बसंत बहार, कुन्दन, शमां, दाग़, सजा, मुहब्बत और खुदा जैसी बेहतरीन फिल्मों के लिए हमेशा याद की जाएंगी मशहूर गायिका वहीदन बाई की ही बेटी थी। वहीदन बाई लखनऊ चौक में बहुत दिनों तक रही हैं और फिर आगरे चली गई.थीं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 1958 में जब मुजरे के ये आईना ख़ाने तोड़े जा रहे थे तो हस्सो, बिग्गन, मोतीजान, पहाड़िन और शीरीं जैसी शख्सियतें उस समय की लखनवी महफिल की सुप्रसिद्ध कलाकार थीं। उसके बावजूद जो गिने चुने घराने मुजरे को लखनऊ में जिंदा रखे रहे है उनमें मुनीरं बेगम की लड़कियों ज़रीना बेगम, अनवरी बेगम, मुन्नी बेगम और सुरय्या का नाम लेना ही होगा जिनके साथ ही सलमा बेगम और नसीम बेगम का नाम भी जुड़ा हुआ है।

इस सदी में मुजरे की संस्कृति को बहुत बदनाम भी किया गया और अब वो लगभग समाप्त हो चुकी है लेकिन स्त्रियों के सम्मान का भरपूर शोषण करने वाले तमाम तरह के नंगे और फूहड़ नाचों ने तो अब फिल्मों में अपना बड़ा जोर दिखाया है और मज़ा ये कि आज के पतन शील समाज में वो बड़े शान की चीज़ समझे जाते है।

कुछ भी हो मुजरे का नाज़ो अन्दाज अपनी जगह अलग ही था और उस की जगह बस यही शेर ठहरता है।

एक हसीं आईना यूं, आईने से कहता है
तेरा जवाब तो मै हूँ, मेरा जवाब नहीं

□□

हिचकारे और तरगारे

लखनऊ ने जहाँ ललित कलाओं के हर पहलू में कोई नई पहल की है विकास और विस्तार दिया है, वहीं प्रणय और कामुक विषयों में भी नए–नए नज़रिए प्रस्तुत किए हैं। फैजाबाद में नवाब शुजाउद्दौला के हरम में बेतादाद स्त्रियों के प्रवेश, तरुण रति–कामना में तमाम लड़कों को ख़्वाजासरा बना देना आदि प्रक्रियाएं इसी सफ़र की ज़बरदस्त शुरुआत कही जा सकती है। हां इससे पहले के अवध के दोनों नवाब जंग की जद्दोजहद और अवध सूबे की वज़ारत की मसनद स्थापना में खर्च होते रहे।

नवाब आसफुद्दौला भी राजा टिकैतराय सहित अपने अलग शौक के लिए चर्चित रहे फिर भी उनका वास्तु प्रेमी और उदार चरित्र ही उनके जीवन में प्रधान रहा। नवाब सआदत अली खाँ का राज्यकाल बड़ी सावधानी और सहजता के साथ बीता। वे गुणग्राही और विचारवान व्यक्ति थे।

अवध के प्रथम बादशाह गाज़ाउद्दीन हैदर अपनी सनक दिमागी और अफ़ीम की लत के लिए प्रसिद्ध हुए। कई बेगमों और विलायती महल के बावजूद ऐसा कोई इल्जाम उनके सर नहीं था। जबकि उनके सुपुत्र बादशाह नसीरुद्दीन हैदर अपनी औरत–परस्ती और ऐय्याशियों के लिए मशहूर रहे हैं। नई–नई लड़कियों को ब्याह कर लाने का उनका ये सिलसिला ऐसा तवील था कि उन्होंने दुल्हन लेने जाने की ज़हमत भी खत्म कर दी थी। शादी के लिए सिर्फ़ उनकी तलवार जाती थी जो अपने साथ दुल्हन की डोली लेकर आती थी और दुल्हन सीधे उनके शयन कक्ष में दाखिल हो जाती थी।

इस तरह के रसिक क्रिया–कलापों को सबसे अधिक प्रोत्साहन "जाने–आलम" के ज़माने में मिला और यह दौर विलासिता की पराकाष्ठा का दौर था। नवाब वाजिद अली शाह की पुस्तक परीख़ाना

इसकी सबसे बड़ी गवाही है। ये प्रेम–प्रणय, राग–रंग, भोग–विलास के नए नए तौर तरीकों और कुश्ता क़िमामों के हकीमी नुस्खों और नई नई ईजादों का ज़माना था। मर्दानगी बरक़रार रखने वाली दवाओं के सौदागर आज तक वाजिद अली शाही गोलियां और क़िमाम उनके नाम से बेच रहे हैं।

इन हिकमती नुस्खों के साथ–साथ यौन आवेग को जगाने तथा बढ़ाने के लिए लखनऊ में एक और तरीका प्रयोग में हुआ करता था। यह नुस्ख़ा "हिचकारों" का नुस्खा था। हिचकारे एक पोस्ट हुआ करती थी, ये मालिश करने वाले जिस्म पर तेल लगाने वाले, कर्मठ नौजवान होते थे, जो दिल बहलाने में ख़ूब–खूब माहिर होते थे। ऐसे–ऐसे बोल बैन जानते थे, ऐसे–ऐसे कामुक अशआर सुनाते थे, कि बेहिस इंसान भी हरकतों पर आमादा हो जाया करते थे।

स्त्रियों की अत्यधिक सोहबत करने से थके हुए लोगों में नए रक्त संचार, सोए हुए बदन को जगा देने की कला हिचकारों का प्रधान हथकंडा था।

राजपूत युग में जिस तरह रणभूमि में उतरने वाले राजा का उत्साहवर्द्धन चारण तथा भाट किया करते थे अवध के पतनशील युग में रति–प्रसंग में जोश खरोश पैदा करने वाले हिचकारे लखनऊ की ही एक देन थे। प्रारम्भिक तैयारियों के बाद ये हिचकारे सहवास संलग्न युगल के पलंग के नीचे लेट जाया करते थे। इनका इतना साहस और अधिकार नहीं था कि उस समागम के दौरान नीचे से निकल कर बाहर आ जाएं। ये वहीं से लेटे–लेटे माशूक के हुस्न के क़सीदे पढ़ा करते थे। उसके रूप यौवन की एक से एक उपमाएं देकर आशिक को खूब–खूब उत्तेजित कर दिया करते थे।

इसके साथ ही साथ उस पुरुष के बल पौरुष और रति क्रिया में पारंगत होने का ऐसा बढ़ा चढ़ाकर बखान करते थे कि बस वो बयान से बाहर है। रण्डियों के सहयोगी ये हिचकारे इस बीच

तरह–तरह से रतिरंग की आवाजें भी निकालते थे और दोनों का उत्साह बढ़ाते थे। इस विषय में कुछ–कुछ रीतिकालीन कवियों के श्रृंगारिक काव्य नायिका भेद, नख–शिख वर्णन आदि का प्रभाव भी देखने को मिलता था। उस काल के वे रियासती राजे जिनके मारे मक्खी न मरे अपने दरबारी कवियों को धन देकर अपनी वीरता के छंद रचवा लेते थे। ठीक उसी तरह ये कापुरुष अपने पौरुष का गुणगान करने वाले हिचकारे पालते थे।

नवाबी दौर के गुंचा, दिलबर, प्यारे, घमासान, गुलगुले आदि हिचकारों के चर्चे आज तक सुनने को मिलते आए हैं। अवधे के इन्साइक्लेपिडिया रंगकर्मी शहरयार मिर्ज़ा के पास हिचकारों की फेहरिस्त थी। बीसवीं सदी में ही हिचकारा प्रवृत्ति के एक व्यक्ति से मिलने का मौका मुझको भी मिला है, नाम था उसका ...संगम।

संगम, बदन दबाने, तेल मालिश करने और उस दौरान रंगीन बातें सुनाने का रसिया था। छोटी उम्र से ही वो ढलतीउम्र वाले ताल्लुकेदारों, नवाबों, सेठों के यहां मुलाज़मत कर चुका था और अपने इस काम में उसको बला की महारत हासिल थी। "सौदा" के तमाम, फ़ोश शेर (अश्लील काव्य) तथा सैकड़ों कामी दोहे उसकी जुबान पर चढ़े हुए थे। उसके कहे हुए कुछ सीमित अश्लीलता वाले दोहे यहां दे रहा हूँ –

धरती तिरिया, कूप जल, और बरगद की छांहि

गरमी मां ठण्डे पड़े, जाड़े मा गरमांहि।

x x x

हरवा तर करवा घरे, पलकन तर है घाट

पुरइन पत्ता टारि के, पानी पी ले भाट।

x x x

मलक उल मौत ने पकड़ा है, मेरा तायरे रुह

कौन कहता है फ़रिश्तों में चिड़ीमार नही

x x x

उचक रहा है चिड़ीमार, बांस छोटा हैं,

ये कोशिशें हैं फ़कत मेरे आशियां केलिए

x x x

तन गोरा मुख सांवरा, बसे सरोवर तीर

पहिल लड़ाई उइ लड़ें, एक नाम दुई बीर।

x x x

और करे अपराध कोई, और कोई फल पाहिं

नैन सैन करि झुकि रहे, उरज उमेंठे जाहिं

संगम अपने हुनर में बेजोड़ था और अपने आप में इस विषय का माहिर था और उसे हिचकारों की परम्परा की बहुत अधिक जानकारी थी।

यहाँ पर यह विदित कराना जरूरी है कि हिचकारों का प्रवेश कभी घर के आंगन में या व्याहता बीबियों के सन्दर्भ में नहीं होता था क्योंकि ये मर्यादा का प्रश्न था। हिचकारे बाज़ारू औरतों के आस–पास या फिर देह संसर्ग के अन्य ठिकानों पर ही अपना काम दिखाते थे।

इस बारे में एक अंग्रेज की कही हुई बात याद आती है जिसने लखनऊ के हिचकारों का रंग देखा था उसने लिखा है कि "हिचकारों का काम और करतब इतना कीमती हुआ करता था कि उसकी अच्छी ख़ासी फ़ीस हुआ करती थी और अमीर उमरा अपनी सहयोगिनी वेश्या से अधिक रुपए इन हिचकारों की नज़र किया करते थे।"

तरगारे

यह नाम सुनकर कुछ अजीब सा लगता है। यह क्या है या यह कौन हो सकता है। किसी फल का नाम है या किसी मिठाई का नाम है, लेकिन नहीं, यह एक पहचान का नाम है, इंसान का नाम है। एक ज़माने में पारसी थियेटरों का बोलबाला था यहां तक कि आ़गा हश्र कश्मीरी के ड्रामे भी उसी तर्ज के हुआ करते थे। आगा हश्र कश्मीरी के नाटक, "आँख का नशा", "यहूदी की लड़की", और "रुस्तम–सोहराब" ने लोगों की आँखों की नींद छीन रखी थी दिल का सुख चैन हराम कर रखा था।

लेकिन पारसी थियेटरों का जलवा कुछ और ही था। उनका स्टाइल उनकी कास्ट्यूम और उनके कलाकार कुछ अलग ही हुआ करते थे। वह युग मूक फिल्मों के आसपास का युग था और उस समय नाटकों में किशोर वय के लड़के ही लड़कियों की भूमिका अदा करते थे। लड़कियाँ परदा प्रथा और असुरक्षा के भय के कारण स्टेज पर पांव नहीं रख सकती थीं।

सूरत, बम्बई से आने वाली पारसी कम्पनियाँ गुजरात के कमसिन लड़के लेकर लखनऊ आया करती थीं। लखनऊ में ये लाजवाब लड़के "तरगारे" कहे जाते थे। इनके बारे में बताने वाले पुरानी पीढ़ी के कुछ बुजुर्ग लखनऊ में दो दशक पहले तक बाकी थे लेकिन आखिर में तरगारों के बारे में जानने वाला सिर्फ एक ही था। जानकार रह गया है शहरयार मिर्जा और अब वो भी नहीं रहा।

शहरयार मिर्ज़ा गुजरे हुए लखनऊ की आख़िरी बहार की तरह अपने आप में वो सारी सिफ्तें समेटे हुए थे जिसके लिए लखनऊ जाना पहचाना जाता है। मिर्जा जी मलका विक्टोरिया के राज में सन् 1901 में पैदा हुए थे। सन् 1901 में ही मलका टूड़िया परलोक सिधारी थीं। मिर्जा जी कटरा वफाबेग (झवाई टोले के निकट) मिर्जा मुग़लबेग की मस्जिद के पास रहते थे और अपना तमाम वक्त

अकबरी दरवाजे के पास मस्जिद तहसीन में गुजारते हैं, 95 वर्ष की उम्र तक भी अपनी जीवनशैली के आधार पर तुन्दुरुस्त रहे। उनको सैकड़ों ठुमरियां, दादरा, तुलसीकृत रामायण का बहुत सा भाग और हनुमान चालीसा वगैरह याद था इन्द्रसभा, औरतों के गीत, लोरियां और लखनवी ज़बान के तमाम अन्दाज़ याद थे। सच्चाई यह है कि वो पुराने लखनऊ, पुराने चौक की जीती जागती तस्वीर थे।

मिर्ज़ा जी का पूरा नाम नवाब मुहम्मद अली खां उर्फ शहरयार मिर्ज़ा था। फैजाबाद की बहू बेगम की बहन कुलसूमुनिसां ख़ानम साहिबा की नस्ल से वो अपना सम्बन्ध बताते थे। इसका दावा यह था कि उनको बेगम साहिबा की अमानत के वसीके में से 26 रु. हर तीसरे बरस तब मिलते थे, जब हिन्दू कैलेन्डर के अनुसार लौंद (अधिक मास) लगता है। मिर्ज़ा जी शिया अक़ीदे से सम्बन्ध रखते हुए भी हिन्दू संस्कृति के परिपोषक रहे हैं और यह चरित्र भी लखनऊ के मिज़ाज़ की खूब–खूब अक्कासी करता है।

वो लखनऊ में चौक की रामलीला का निर्देशन करते थे। कृष्ण जन्माष्टमी में मंदिरों का सिंगार करते थे। रामलीला के स्वरूपों की साज सज्जा और मुकुट रचनाएं करते थे उ.प्र. संगीत नाटक अकादमी के लिए उनके रिकार्ड्स का इन्टरव्यू मैंने ही लिया था। आर्टिस्ट होने के नाते मिर्ज़ा जी ने मुद्दतों पारसी थियेटर के परदे बनाए हैं। इसलिए तरगारों के बारे में उनकी अच्छी मालूमात थी।

उनके अनुसार ये तरगारे गुजरात के कुछ साधारण घरानों में से छांट कर खरीदे जाते थे। कुछ कम उम्र से ही उनकी बुकिंग कर ली जाती थी और इसके लिए परिवार को 5 साल के वास्ते अच्छा मुआवजा और अक्सर मुंह मांगी रकम दे दी जाती थी। तरगारे शारीरिक सौष्ठव और शक्ल सूरत में सुन्दर तथा अति आकर्षक तो होत ही थे उनकी तैयारी भी कुछ कम रोचक नहीं हुआ करती थी।

कम्पनी इन लड़कों की हर हरकत पर कड़ी नज़र रखती थी

उनका कौमार्य भंग न होने पाए इसकी खास हिदायत हुआ करती थी। उनके तेज का एक बूंद भी कहीं गिरने न पाए इसलिए उनके खान–पान, रखरखाव और ब्रह्मचर्य का पूरा ध्यान रखा जाता था। अपने युग में प्रसिद्ध नाटककार पं. गोविंद बल्लभ पंत ने एक जगह लिखा है कि सन् 1920 के आस पास नाटकों का बोलबाला था। इस समय महिलाएं नाटकों में नहीं आयी थीं। महिलाओं के पार्ट गुजराती लड़के करते थे। गुजराती लड़के अभिनय बड़ा अच्छा करते थे। एक नाटक "बुद्ध देव" खेला जाता था। उसमें चुन्नीलाल नाम का गुजराती बालक बहुधा अपनी मांग पूरी कराने के लिए बड़ी–बड़ी शर्तें रखता था कंपनी अनुनय के साथ उसे बुलाती थी और उसकी मांग पूरी करती थी। एक बार उसे मेरे साथ रख दिया गया। जिस दिन नाटक था। उसने नाटक के समय किसी दर्द का बहाना बनाया। एक साहब जो नाटक के निर्देशक थे। वह बोले मैं उसके दर्द की दवा जानता हूँ, वह उसको अपने साथ ले गये। उसे दवा दी और अभिनय कराया। वह बाक़ायदा ठीक हो गया। इसमें शक नहीं कि ये तरगारे 13 से 18 साल तक की उम्र में ही होते थे। उनके कुदरती घने घुंघराले बालों की अदा निराली होती थी। उनके चेहरे की कन्दील देखकर ही उस ज़माने में बहजाद लखनवी ने यह गज़ल कही थी–

तूने तो मुझे ज़ालिम दीवाना बना डाला
अपने रुखे रौशन का परवाना बना डाला
जाहिद को हुआ पैदा पीने का नया चस्का
कूजा जो वजू का था पैमाना बना डाला
मिम्बर के करीब हमने तस्वीरे सनम रख दी
क़ाबे में भी छोटा सा बुतख़ाना बना डाला।

जिस समय लखनऊ के बुलन्द बाग, गोलागंज इलाके में

पारसी कम्पनियाँ अपने तमाशे लेकर उतरती थीं शहर के दिलफेंक और हुस्न परस्त लोग तरगारों की झलक देखने के लिए बेचैन हो जाया करते थे। बग्घियों में इन्हें शहर की सैर के लिए निकाला जाता था जिनको लोग दूर से ही देख सकते थे इनके साथ इनकी सुरक्षा क़े लिए सिपाहियों की टुकड़ी चलती थीं।

जिन खेमों में ये लड़के नहलाए जाते थे उनके आस–पास मनचले लोग मंडराया करते थे और अक्सर नौकरों को रुपए दे कर दीदार के हक़दार हो जाते थे। शीशे जैसे जिस्म वाले चारित्रिक बल से आपूरित ये मदन बालक कभी आपस में भी साथ–साथ नहीं सुलाए जाते थे और किसी को इन्हें छू पाना तो बड़ी दूर की बात थी। अब ये नहीं मालूम कि तरगारों की जो कद्र–क़ीमत लखनऊ में थी, वह हिन्दुस्तान के और नगरों में भी हुआ करती थी या नहीं। ये सिर्फ तत्कालीन लखनऊ का मिज़ाज था, निजी व्यसन था।

हाँ, दिल्ली से लखनऊ आकर बसे हुए प्रसिद्ध शायर मीर तक़ी मीर की तबियत का आईनादार उनका एक शेर हैं जो इसी सन्दर्भ में है–

मीर क्या पूछिए, बीमार हुए जिसके सबब
उसी अत्तार के लड़के, से दवा लेते हैं।

उसी तर्ज़ पर मीर हसन ने भी कहा है –

लड़के बरहमनों के, संदल भरी जबीनें
हिन्दोस्तां में देखे, सो उनसे दिल लगाए।

□□

ठुमरी–दादरे के रंग, बेगम अख़्तर के संग

रस भीगी चांदनी – ठुमरी

ठुमरी शास्त्रीय संगीत की सरगम को सरल बोलों के अर्थशास्त्रीय विधा में जनमानस तक पहुंचाने की अत्यन्त कलात्मक प्रक्रिया है। मन से उठते हुए कोमल भाव शब्दों की डोर पकड़ कर जब सुरों की मोहिनी लेकर साकार होने लगते हैं तो शायद ठुमरी होती हैं। ठुमरी शब्द की अभिव्यंजना के लिए कहा गया है कि लय में ठुमक का होना और रीझने का प्रभाव ही ठुमरी को जन्म देता है। राग दर्पण, तोहफ़तुलहिन्द, श्री राधा गोविन्द संगीत सार आदि ऐतिहासिक पुस्तकों में ठुमरी का उल्लेख मिलता है। 17वीं सदी के प्रांरभिकदौर में ठुमरी का प्रभाव अच्छी तरह प्राप्त होता है।

भरतमत के राग रागिनी से श्री राग की प्रमुख रागिनी को ठुमरी कहा गया है। अगर रूपक में गीत के भाव का रूप प्रकट किया जाता है तो ठुमरी–रूपक शैली का विकसित रूप है जो कैशिकी वृत्ति का गान प्रदर्शन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ठुमरी गायन उच्चकोटि की कला है जिसमें हृदय के कमनीय भावों को स्वरों के माध्यम के प्रस्तुत किया जाता है और इस तरह भावनाओं को बिना दृश्य के साकार कर देने का हुनर ठुमरी में हैं।

कुछ रंग अकेले नहीं होते वो कई रंगों के मेल से बनते हैं जैसे हरियाली का रंग। ठुमरी का भी यहीं रंग है जिसमें शास्त्रीयता का कुंदन सोना है तो लोक मानस का सुहागा भी इसीलिए ठुमरी को उपशास्त्रीय संगीत धारा में रखा गया है। इस विधा में राग के नियमों का पालन बहुत तत्परता से नहीं किया जाता कलाकर उसमें अनुकूल स्वरों के इन्द्रधनुषी रंगों को मिलाकर अपना कौशल दिखाने का अच्छा अवसर पाता है।

ठुमरी में भाव पक्ष की प्रधानता प्रबल होती है इसलिए यह श्रृंगार प्रधान रागों में गायी जाती हैं। इसका मिजाज पहाड़ी नदी जैसा स्वच्छन्द और निर्मल है जिसके बहाव में कटाव भी मिलते है और मोड़ भी आते रहते हैं।

ठुमरी और लखनऊ

ठुमरी का संबंध जितना लखनऊ से है उतना शायद किसी और से नहीं है फिर भी लखनऊ को ठुमरी का जन्मस्थान कहना बिल्कुल सही नहीं है क्योंकि संगीत की कुछ पुस्तकों में ठुमरी के बहुत पहले से होने का जिक्र मिलता है अब ये बात और है कि लखनऊ से पहले उसका रूप स्वरूप ये न रहा हो जो आज हमारे सामने हैं।

उन्नीसवीं सदी के मध्य नवाब वाजिद अली शाह के समय में ठुमरी को अच्छा प्रश्रय मिला और उसकी अच्छी परवरिश हुई। वो न सिर्फ अच्छे ठुमरी गायक थे बल्कि अख्तर पिया नाम से खुद ठुमरियां लिखते थे। उनकी ये सुप्रसिद्ध ठुमरी उनके हुनर की गवाह है।

बाबुल मोरा नैहर छूटोहि जाय,
अंगना तो परबत भयो, देहरी भई बिदेस,
ले बाबुल घर आपना, मैं चली पिया के देस,
मेरा अपना बेगाना छूटोहि जाय

लखनऊ की ठुमरी को हर पहलू से सजाने संवारने का पहला रूतबा उस्ताद सादिक अली खाँ को पहुंचता है जिन्होंने खयाल और बन्दिश की ठुमरियों में आकार की तानें, मुरकी, खटका और बोल तानें लगाकर इसे अपनी अलग पहचान दी। आज ठुमरी की जो इज़्ज़त है वो लखनऊ की देन हैं।

अवध में ठुमरी गायन एक संस्थान रहा है, बड़ा प्रबल सिलसिला रहा है। कथक आचार्य महाराज बिन्दादीन की ठुमरियां इस बात की

सुन्दर दलील है। और उस समय से आज तक ये श्रृंखला बरकरार है भले ही उसमें समय और स्थान के अनुरूप कुछ परिवर्तन मिलते है। उस समय के ठुमरी फनकार अपने उपनामों में पिया लगाते थे और उस परम्परा में चौलक्खी वाले वज़ीर मिर्जा फरुर्खाबादी 'क़दर पिया' से लेकर महाराज बिन्दादीन, सनद पिया तक सभी नामवर हुए है। क़दर पिया की एक ठुमरी यहाँ प्रस्तुत है–

ए री गुइया मैं कैसे भेजूं पाती

कदर पिया को कैसे भेजूं पाती

एक तो रैन अंधेरी पापिन

दूजे सूनी सेज नागिन

तीजे मोरा बाला जोबन, हाय लजाती

कैसे भेजूं पाती

जाने आलम के परीखाने में ठुमरी उनकी परियों के साथ–साथ थी क्योंकि सब की सब ठुमरी गायन में पारंगत थीं। शाही स्टेज के अलावा जनमंच पर भी ठुमरी खूब गायी जाती थी जहां उसको समझने वाले मौजूद होते थे। मिर्ज़ा अमानत की इन्दर सभा (पब्लिक स्टेज की एक नृत्य नाटिका) में लाल परी की इस ठुमरी को कौन भूलेगा–

'बिन पिया घर नहीं भावै'

नवाब वाजिद अली शाह के दरबार के मशहूर सितार वादक गुलाम रजां खाँ ने सबसे पहले सितार पर ठुमरी बजाने की रीत चलाई। ठुमरी पर रजाखानी गत की छाया आज भी मिलती है और इस तरह ठुमरी ने गायको के साथ–साथ वादकों का दिल भी छीन लिया।

ठुमरी को अवध के आस–पास अंचल की बोलियों और लोक धुनों की तरंगों से नागरी रूप में सजा संवार कर राज्याश्रय देने का

श्रेय अवध के राज घरानों को भी कुछ कम नहीं हैं।

लखनऊ में जाने आलम के समय में दरबारी ठुमरी गायकों में धूमन, हुसैनी और लज्ज़त बख्श का बड़ा नाम था।

उस वक्त ठुमरी के दो ही भेद थे, बोल बनाव की ठुमरी या फिर बोल बांट की ठुमरी।

बोल बनाव की ठुमरी –

बोल बनाव की ठुमरी जहां भाव प्रधान होती है, बोल बांट की ठुमरी गति प्रधान रहती है।

लखनऊ का चरित्र बोल बनाव की ठुमरियों में मिलता है। ठुमरी में बोल ही उसका जीवन है, प्राण है ये भावुकता भरे बोल बनाव बाद में पूरब अंग की पहचान बने।

पूरब अंग का ठुमरी –

यहां मोहक और मुनासिब स्वर, संगीत के साथ स्थायी उभरता है। जिसमें गायक गीत के शब्दों में निहित भावों को अनेक प्रकार से स्वरावरण में तरह–तरह से लपेटकर पेश करता है। पूरब अंग की ठुमरी का एक गुण ये भी है कि प्रारम्भ में वो ठुमरी अपने ही राग में निभायी जाती है और फिर थोड़ा परिवर्तन के साथ प्रमुख राग से मिले जुले रागों के स्वर समूहों में बोल बनाव किये जाते हैं। इसमें बढ़त का भी एक क्रम होता है। अन्तरे के बाद लय द्रुत हो जाती है और फिर उसकी बढ़ी हुई चाल कहरवा ताल का हाथ पंकड़ कर निकल जाती है। लखनऊ की एक ठुमरी गायिका ने उन्नीसवीं सदी के मध्य में सुप्रसिद्ध सितार वादक रहीम सेन के सामने ठुमरी पेश की थी और भाव प्रदर्शन के अतिरेक में उस ज़माने के दो सौ रुपये वाली अपनी चुनरी फाड़ डाली थी और उस ऐतिहासिक ठुमरी के बोल थे–

'मोरा पिया जोगिया हो गया'

गायन के एतबार से ठुमरी छोटे ख्याल के करीब पहुंचती है।

लयकारियों, बोल ताने और तानों की त्रिवेणी इसे मोहक बना देती है। महाराज बिन्दादीन, ललन पिया, कुंवर श्याम की ठुमरिया कुछ ऐसी ही हुआ करती थी।

बोल बाँट की ठुमरी

बोल बाँट की ठुमरी बंदिशी ठुमरी भी कह लाती है इसमें सुरों के करतब दिखाने के साथ–साथ मुर्की का अच्छा रंग भी मिलता है और यहीं ठुमरी पछाही ठुमरी कही जाने लगीं। ललन पिया, चांदपिया की ठुमरियों में इनकी झलक मिलती है। इन ठुमरियों में सुन्दर शब्दों की मोती लड़िया कलात्मक प्रसंगों के संग होती है।

लखनऊ के मशहूर ठुमरी कार आला कदर और बब्बन साहेब का कौल रहा है, कि ठुमरी गाते समय मन में निरत भाव का रहना ज़रूरी है। ठुमरी पुरवाई का एक खुश गवार झोंका बनकर पश्चिम में पंजाब की तरफ़ पहुंची तो उसने ठुमरी का पंजाब घराना बनाया टप्पे की ठुमरी भी सही मानों में लखनऊ से ही चली थी जिसे गुलाम नबी शोरी ने तैयार किया था। इसकी तैयारी में खटके ज़मज़मा स्वर के उच्चार और पंजाब के ऊँट चालकों की लोक धुन 'टप्पा' भी जुड़ी थी।

बड़े गुलाम अली खाँ ओर उनके छोटे भाई बरकत अली खाँ की ठुमरियों में गले बाजी की वो चमक मिलती है जो पंजाबी ठुमरी का स्वरूप है जहां स्वर वैविध्य, कण, मुर्की और तैयार गले से खटकेदार छोटी–छोटी ताने पेश की जाती है। लय की बात करें तो ठुमरी बिलम्पित मध्य और द्रुत तीनों लय में गायी जाती है।

विलम्बित लय की ठुमरी में चैनदारी सुरो की लाग और बौल बनाव की बड़ी सम्भावनाएं रहती है वे दीप चन्दी और जत में गायी जाती है और जिसके अन्त में लग्गी लगायी जाती है।

मध्य लय की ठुमरी में छोटी–छोटी तानें होती है छोटे–छोटे बोल बनाव का प्रयोग किया जाता है और ये अधिक तर एक ताल

झप ताल रूपक अध्धा या सितार खानी में होती है। द्रुत लय की ठुमरी में लयकारी ओर बंदिश का चमत्कार रहता है।

ठुमरी का पूरबी ठिकाना पूरब अंग की ठुमरी लेकर उभरा और जिसे बनारसी ठुमरी का नाम दिया गया। बनारस की ठुमरी में जो ठहराव है वो आराधना की तरह है जो मन को शान्ति देने वाला है।

बनारस के ठुमरी गायकों के गुरु पं. कालिका प्रसाद और बिंदादीन महाराज ही नहीं उनके पहले भी कुछ रहे है। उस्ताद मौजुद्दीन खाँ की प्रसिद्ध ठुमरी "पिराई मोरी अंखियां" और "बाजूबंद खुल–खुल जाए", इनकी अनूठी मिसालें है। पूरब अंग में ही पीर बाई, छटांकी, गुलाब बन्दी, बावली, मंगू बाई, मोती बाई और मलिका थीं।

बनारस की हुस्ना, विद्याधरी, मैना, राजेश्वरो, काशी बाई, सिद्धेश्वरी और गिरिजा देवी सब में पूरब अंग ठुमरी की आत्मा मिलती है। इलाहाबाद की जानकी देवी, 'छप्पन हुरी' पटना की जौहर जान, झरिया की कमला भी इसी रंग की ठुमरी गाती थी।

श्रृंगारिक प्रकृति के कारण शब्द योजना में सदा नारी हृदय की प्रणय कामना मिलती है और फिर उसके बरताव के लिए वैसे ही खटके मुरकियां और मींड लगाये जाते है।

श्रृंगार के भी दो पहलू है संयोग और वियोग। संयोग श्रृंगार ठुमरियों में रास विलास की उमंग भरी होती है जो मिलन आनन्द वाले हल्के फुलके चपल रागों में गायी जाती है। और जब यही प्रेम भावना विरह वियोग में डूबी हुई होती है तो ठुमरी मान विछोह की बोल बानी लिए हुए होती है और फिर उसमें भीगे–भीगे कोमल स्वर लगते है।

ठुमरी गायन में राग और धुन दोनों का समान बोल बाला रहता है जिससे भाषा और बोलीं की गूंज बराबर बनी रहती है। अठारहवीं सदी की ठुमरी सम्पूर्ण जाति का राग रही है काफी राग के स्वरों पर अठखेलियां करती हुई कोमल ग और नी के साथ कभी–कभी शुद्ध

गांधार को भी लिए हुए होती थीं इस बीच राग "गारा" की छाया भी उस पर पड़ती रही है।

18वीं सदी में मुहम्मद शाह रंगीले की मुल्तानी ठुमरी 19वीं सदी में जोधपुर के महाराज मानसिंह रसराज की राग कालिंगड़ा की ठुमरी और किशन गढ़ के महाराज जवानसिंह ब्रजराज, की ठुमरियां इसी रिश्ते की कडियां हैं।

ठुमरी के जाने पहचाने लोक रंग के राग पीलू, गारा, मांड झिंझोटी हैं। और शास्त्रीय राग भैरवी खमाज तिलक कामोद आदि है भैरवी की ठुमरी हर किसी का मन मोह लेती है इसका सुन्दर उदाहरण के.एल. सहगल की गायी हुई ठुमरी "बाबुल मोरा नैहर छूटोहि जाए है।" इस ठुमरी को शम्भू महाराज से सीखने के लिए कुन्दन लाल सहगल लखनऊ में आठ दिन तक ड्योढ़ी बिन्दादीन में डेरा डाले रहे थे।

ठुमरी के स्वर सारगी की बारीकियों के साथ–साथ बयान होते है तो उन्हें जिन तालों का सहारा मिलता है उनमें त्रिताल सरताज ताल है इसके अलावा 16 मात्रा वाली जंत, चाचंर और सितार खानी ताल भी ठुमरी का सिंगार बनती रही है। दीपचंदी, रूपक, अंद्धी एक ताल और दादरा भी अपना रंग ठुमरी को देते है लेकिन जब आखिर में कहरवा ताल की द्रुत में लग्गी को प्रयोग लेकर ठुमरी ठहरती है। तो लगता है जैसे कोई दिलकश सपना टूट गया है।

लखनऊ की गंगा जमुनी अदा का एक अन्दाज ये भी है कि नृत्य के साथ ठुमरी की जुगलबन्दी की मोहक प्रस्तुति का रिवाज रखा गया। महाराज बिन्दादीन की ड़योढ़ी और भेरव जी मन्दिर के आंगन से उठने वाली घुंघरूओं की झनकार और ततकारों के साथ जब ठुमरी की लयकारी जुड़ गई तो देखने सुनने वाले वाह करना भूल गए कुछ ऐसा जादू जमा कि दिल थाम कर हाय कह उठे।

बिन्दादीन महाराज की लिखी हुई बहुत सी ठुमरियां इसी का इशारा हैं। कथक की लास्य विधा के साथ भजन का भाव प्रकाश

ठुमरी के सहयोग से बड़ी कुशलता से किया जाता है। भक्ति परक प्रेमानन्द और करुण निवेदन ठुमरी के आवरण के बहुत अनुकूल होता है। लोक रंग की ठुमरियों में अपनी माटी की महक भी धुली मिली रहती है जैसे होरी ठुमरी की यह प्रसिद्ध बन्दिश

'बाट चलत नई चुनरी रंग डारी'

या

मो पे डारि गयो, कान्हा रंग की गगर

इसी तरह तिलक कामोद से सावन के रंग में सजायी गयी ये ग्रामीण ठुमरी "निमवा तले डोला रख दे मुसाफ़िर" भी अपने आप में ग़ज़ब है।

आज के ज़माने में नैना देवी, निर्मला देवी, गिरजा देवी, सविता देवी, सन्ध्या मुखर्जी, शोभा गुर्टू, माणिक वर्मा, रीता गांगुली, ठुमरी की जागरुकता का मधुर स्वर है।

ठुमरी की प्रसिद्ध गायिका रीता गांगुली ठुमरी को भक्ति युग की देन मांनती हैं। जब दूर का ईश्वर आप के पास आपका प्रियतम बन कर आशिक बन कर आ जाए आप—उसे पाकर रस विभोर हो जाएं रूठें भी और मनाएं भी। ठुमरी में जहाँ एक ओर शास्त्रीय गायन का सुख होता है वहीं साथ ही साथ लोक रागों का आंनन्द भी रहता है। सुरों का लगाव और गले की निरत लिये हुए ठुमरी गाने वाला जब अपनी सुध—बुध खोता जाता है तो सुनने वाला भी साथ—साथ दीवाना होता जाता है।

दादरे के रंग

जिस किसी ने भी बेगम अख्तर की पपीहरी आवाज़ में यह दादरा सुना हैं "हमरी अटरिया अउतिउ सजनवा देखा देखी तनिक होई जाए" उसे दादरे के हुस्न के बारे में कुछ समझाने की ज़रूरत नहीं है। दादरा हिन्दुस्तानी संगीत में गायन कला की वो खनकदार

शैली है जहाँ सुरों में झील सी गहराई भले ही न हो लेकिन झरने की झनकार और रफ्तार का मधुर आनन्द जरूर है। दादरा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कोई शास्त्रोक्त उल्लेख तो नहीं मिलता है परन्तु संगीताचार्यों ने दादरा गायन को लोक संगीत की एक रसरंग धारा माना है और इस तरह ये संगीत की एक सनातन शैली है जो परम्परागत विधा में प्रचलित है। इसका प्रारम्भिक स्वरूप बरकत अली के। ''रतिया किधर गंवाई'' (रेकार्डन 7EPE 1253) दादरे में देखा जा सकता है। पुराने समय से दादरा गायिकी से प्रभावित होकर शास्त्रीय संगीत गायकों ने इसे इस हद तक अपना लिया कि आज तक ये गायन शैली उनकी कला का गहना बनी हुई है। वैसे इस उपशास्त्रीय गायिकी की सबसे बड़ी भूमिका ये रही है कि इसने संगीत के हर स्तर के प्रेमियों में हमेशा लोकप्रियता पायी है। ये एक ऐसी कड़ी है जिसने ठेठ गायिकी का दामन खींचकर लोक संगीत के आंचल से जोड़ दिया है। **''सावन झरि लागी''** दादरे में सावन की सुहानी रिमझिम की ठण्डी छुअन है जो उस भीगी रितु का सिंगार मालूम होती है।

दादरा ताल :

गायिकी के अतिरिक्त दादरा तबले की एक प्रसिद्ध ताल भी है जिसके बोल होते हैं धाधीना, धातीना। कहा जाता है बरसात के भीगे मौसम में दादुरों की टटकार सबने सुनी होगी वही लयबद्ध द्रुत ध्वनि दादरा की मूल प्रेरणा बनी। दादरे का बाज 6 मात्रा में 3+3 की 2 यति में उभरता है। और कभी कभी इस टेके में 2+2+2 की 3 यति भी दिखायी जाती हैं। द्रुत लय में तो दादरे की चमक ही कुछ और होती है क्योंकि दादरा लय का ही बीज है। नवाब आसफुददौला के समय तबले का लखनऊ घराना कायम हुआ जब दिल्ली के उस्ताद मोदू खाँ और उस्ताद बख़्शू खाँ लखनऊ आ कर बस गए उन दोनों ने ही लयकारी और बाज में कुछ परिवर्तन करके तबले का लखनऊ

घराना दिया। खलीफा आफ़ाक हुसैन खाँ उसी ख़ानदान की ज़ीनत थे आज उनके बेटे ही उस्ताद इल्मास हुसैन खाँ इस घराने के सिरमौर है।

दादरा के पूरब अंग की गायिकी में, विशेषकर बनारस घराने के गायक दादरा को दादरा ताल में ही निबद्ध मानते हैं और इसी ताल में सदा से गाते आए हैं। उनके अनुसार दादरा ताल ही दादरा शैली की बुनियाद है। इस गायिकी में जब मध्यम में गीत का मुखड़ा उभरता है तो गाने में और भी अधिक निखार आ जाता है। बेगम अख्तर का सुप्रसिद्ध दादरा ''मोरी टूट गई आस'' (ECSP 2374) पूरब अंग की इन सारी खूबियों से सराबोर है।

दादरा, दादरे में ही गाया जाए ऐसा भी कोई कठिन बन्धन या नियम नहीं हैं दादरे का पश्चिम घराना अपनी एक अलग सुगन्ध लिए है। वहां प्रायः कहरवा ताल में ही दादरे की बन्दिश होती है। और इस तरह का दादरा एक अलग गंगा जमुनी अन्दाज में होता हैं। कहरवा ताल के दादरे में कहरवा ही क्या, चांचर या रूपक में भी बन्दिश होती है और मज़ा ये कि उनमें लय के चढ़ाव में कहीं से कोई कमी नहीं मिलती है। शोभा गुर्टू के गाए हुए कुछ दादरे चांचर में अपनी अलग पहचान बनाए हुए है। ऐसा माना जाता है कि दादरा–ठुमरी की शाख पर खिला हुआ एक फूल है लेकिन यहां शब्द के भावों पर बहुत जोर नहीं होता इसलिए बोल बनाव से ज्यादा मुरकियां, खटके और भड़ी से काम लिया जाता है। ठुमरी और दादरे के बीच लगभग वही रिश्ता है जो ख्याल गायिकी में विलम्बित और द्रुत में होता है। ठुमरी में बोल विलम्बित में होते हैं इसलिए उसकी बन्दिश में लय की डोर का बरक़रार रहना संभव नहीं होता जबकि दादरे में लय की डोर में ही बन्दिशें होती है और लय की डोर को पकड़कर ही बोल बनाए जाते हैं। इसका श्रेष्ठ उदाहरण बेगम अख्तर का दादरा ''चला है परदेसिया नैना मिलाय'' है।

भाषा और संगीत :

दादरे की सबसे बड़ी शर्त दिलकश भाषा और रोचक संगीत है। आम लोगों की रुचि के इस गायन में बोल बचन बड़े आसान होते हैं और एक तरह से भोली तबियत का एलान होते हैं। श्रृंगार रस की इस भाव प्रधान विधा में प्रेम प्रकरण भी निराले अन्दाज में होते हैं कभी कभी तो उनमें ब्रज, अवधी के साथ उर्दू की ऐसी बनत बांकड़ी टंकी मिलती है कि उस, की झलक धूप छांव हो जाती है। यही दादरा 'मलियावी दादरा' कहलाता है। रीता गांगुली की तैयार और रियाज़दार आवाज़ में राग देस का बेगम साहिबा का दादरा "जियरा मोर लहरायरे" इसी धूपछांव का आईनादार हैं। राग भैरवी कोमल रागों का सरताज है और उसमें जब दादरे की बन्दिश होती है तो दादरा और भी मीठा लगता है। जैसे मन्ना डे की आवाज़ में फ़िल्म मंजिल में गाया गया दादरा "ना बनाव बतियां, हटो काहे को झूठी"

भैया गनपतराव के हारमोनियम से मचलने वाला दादरा हो नटनियों, कंजरियों की द्वार द्वार गूंजने वाली गुहार का दादरा हो या घर में औरतों के गीत नृत्य में सजने वाला दादरा, दादरे की बिसात सभी जगह बिछी है। अपनी उन्हीं कदरों के साथ और फिर उस परम्परा को पूरी तरह निबाहने वाली बेगम अख़्तर की पुर असर आवाज सोने में सुहागा नहीं तो फिर और क्या है "पिरायी मोरी अंखियां" (रेकार्ड नं. ECLP 2392838)

ध्रुपद धमार ठुमरी ख़याल ओर टप्पे की दरबारी महफिल से उठकर संगीत का ये अनुपम उपहार अपनी लगावटों के अलग अन्दाज़ लिए, कुछ नाज़ो नियाज लिये सब तक पहुंचा है।

लखनऊ के बब्बन साहब की पेशकश हो, हसीना का हुनर हो, बन्दी के बोल हों या बेगम अख्तर की सुरों में नहायी आवाज ये सभी दादरे की जीनत रही हैं।

परम्परागत शैली का दादरा मुद्दतों जाने आलम के परीखाने की चांदनी बनकर रहा और फिर इन्दर सभा, नाटकों और नौटंकियों

में गूंजता रहा "कौन अलबेले की नार झमाझम पानी भरे" दादरा उसी समय की देन है। आज भी उसे भुला दिया गया हो ऐसा नहीं है। उस महकदार गजरे की लपक अब भी हर दिल को छू रही हैं। लोक संगीत की धरती पर लहलहाने वाली इस फुलवारी की ये मनमोहिनी छब शारदा सिन्हा के गाए दादरों में भी खूब खूब मिलती है और फिर जब गिरिजा देवी जैसे किसी परिमार्जित गले का आभूषण दादरा बनता है तो फिर उसका कहना ही क्या उनकी बेजोड़ लयकारी मैं "दीवाना किए श्याम" दादरा, श्याम रंग में रंगा हुआ है जो मन के आनन्द को परमानन्द से जोड़ देता है।

आवाज़ का तिलिस्म – बेगम अख़्तर

बेगम अख़्तर याद आती हैं तो याद आता है एक जमाना। ये नवम्बर, सन् 1974 की बात है जब भारतीय रजत पट के सुप्रसिद्ध संगीत निर्देशक मदन मोहन मेरे साथ लखनऊ के पसन्द बाग में बेगम अख़्तर की कब्र पर पहुँचे थे, बेगम साहबा के पति इश्तियाक़ अहमद अब्बासी साहब ने यह जिम्मेदारी हमें सौंपी थी। बेगम साहिबा को गुज़रे अभी चार दिन ही बीते थे इसलिये कब्र कच्ची थी। जड़ाऊ फूलों की चादर से मदन मोहन जी ने वो क़ब्र ढक दी थी, और केवड़े से सराबोर कर दी थी। लखनऊ के क्लार्क होटल से चल देने के बाद वो रास्ते में एक ज़रा किसी से नहीं बोले थे और वापसी में निरन्तर रोते हुए आये थे, जब कि रेखा सूर्या (दादरे की फनकारा) भी हमारे साथ थीं। मैंने अपनी जिन्दगी में किसी मर्द को कभी इतना रोते हुए नहीं देखा था। लहद (क़ब्र) से लिपट कर जब वह सिसक रहे थे तो मुझे लगा था कि ख़ामोश जबां में बेगम साहिबा की गायी हुयी ये गज़ल कहीं से उभर रही है।

बुझी हुई शम्मां का धुँआ हूँ, और अपने मरकज़ को जा रहा हूँ।
कि हसरतें तो मिट चुकी हैं, अब अपनी हस्ती मिटा रहा हूँ।
उधर वो घर से निकल रहे हैं, इधर मेरा दम निकल रहा है।
तबाह यूँ हो रही है क़िस्मत, वो आ रहें हैं, मैं जा रहा हूँ।

इस गज़ल को अपने सीने में संजाये हुए एक पुराना ग्रामोफोन रिकार्ड मेरी माँ के पास था, जिसके भूरे लिफाफे पर "अख़्तरी बाई फैजाबादी" की तस्वीर भी बनी हुयी थी ज़ेवर गहनों से खूब लदी फँदी और हाथों पर अपनी ठुड्डी टिकाये हुए। गज़ल जिनके नाम का दम भरती है उन्हीं मलिकाए ग़ज़ल बेगम अख़्तर की नुक़रई आवाज़ की झनकारें आज भी उसी तरह तीर बनकर दिल में उतरती है। वो आवाज जिसने फैजाबाद अवध के रीडगंज इलाके बारादरी मोहल्ले में 7 अक्टूबर 1914 को आँखे खोली थी। सिविल जज सैय्यद असगर हुसैन की दूसरी बीबी मुश्तरी के आँगन में अख़्तरी पैदा तो अपने साथ एक और बहिन को लेकर हुई थीं, लेकिन वो ज़ोहरा बचपन में हीं गुजर गयी। इसलिये सारा लाड़ प्यार इनके ही हिस्से में आ गया। बचपन में वो दुलार से बिब्बी कही जाती थीं। सुबह की किरनों ने उन बे शुमार उजालों का पता दे दिया था जो आने वाले कल की रौनक़ बनने वाले थे। बचपन में ही वो थियेटर की एक ऐक्ट्रेस "चन्दा" पर दिलोजान से फिदा हो गयीं, जो साहिबे सूरत भी थी और बेहद सुरीली भी। नौकरानी अमानत के साथ छिप–छिप के चन्दा को देखने सुनने जाया करती थीं, बस यहीं से चिराग ने आग पायी थी। पपीहरी आवाज और गाने का हुनर तो वो लेके पैदा हुयी थीं। उनके इन सपनों को संवारा, उस्ताद तानरस खाँ के सुप्रसिद्ध घराने के पटियाले वाले उस्ताद वाहिद़ खाँ, मुहम्मद खाँ और कैराना घराने के उस्ताद वहीद खाँ साहब ने, फिर इस तरह संगीत की साधना परवान चढ़ने लगी। बाद में वो 18वीं सदी और 19वीं सदी की परम्परागत शैली के लखनऊ घराने की ज़ीनत बनी।

इस बीच वक्त ने कुछ ऐसी करवट ली कि किसी दुश्मनी में उनका घर जल गया। बाप पहले ही मुँह मोड़ चुके थे गरज ये कि अब परिवार तबाही के कगार पर था। बेज़र (धनहीन) इन्सान, बेपर का परिन्दा होता है। यही दर्द लिये, एक मुँहबोले भाई का सहारा लेकर उनकी माँ, बिब्बी के साथ फ़ैज़ाबाद से निकलीं थीं, गया की

तरफ। आवाज़ का ये सफर कुछ आसान नहीं था, सिवा इसके कि कोई मंजिल उन्हें आवाज़ दे रही थी। उसी मंजिल की तलाश ने उन्हें कभी दम लेने नहीं दिया।

ज़िन्दगी में सबसे बड़ा काम होता है खुद को पा लेना। और कलकत्ते में जब उनकी पहली रेकार्डिंग हुई तो उन्हें लगा कि बिब्बी के सामने अख़्तरी आकर खड़ी हो गयी है इस ग़ज़ल के साथ –

वो असीरे दामे बला हूँ मैं, जिसे सांस तक भी न आ सके
वो कफ़ीले संजरे नाज़ हूँ, जो न आँख अपनी उठा सके

ये जो पहली ग़ज़ल रेकार्ड की गयी वो बाद में फिल्म "एक दिन की बादशाहत" में भी शामिल थी जो कलकत्ते में ही बनी थी। सन् 1944 में कलकत्ते के ही एक अचानक प्रोग्राम में वो मजमे के बीच पहले पहल पहचानी गयीं और फिर दुनिया उनकी दीवानी हो गयीं, जहाँ उन्होंने ऊँची तान में गाया था–

"तूने ऐ बुते हरजाई, ये कैसी अदा पाई
तकता है तेरी सूरत, हर एक तमाशाई

यहीं भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू उनकी प्रशंसक बन गयीं। उनके द्वारा उपहार स्वरूप दी गयी खद्दर की एक साड़ी वो सदा अपने साथ संजोए रहीं। उनकी आवाज़ में जो अनुनासिका स्वर था बड़ा ही सुहाना था और फिर खरज की पत्ती तो उनके गले की जीनत ही थी जो लाखों में किसी एक को नसीब होती है। इस तरह उनकी आवाज का ऐब भी, हुनर बन चुका था।

सन् 1938 में उनको बम्बई बुला लिया गया जहाँ उन्होंने मुमताज़ बेगम, नसीब का चक्कर आदि फिल्मों में काम किया। नल दमयंती, नाच रंग दानापानी (मीना कुमारी – भारत भूषण – 1953) और एहसान (नलिनी जयवंत – अजीत – 1954) में उनका प्ले बैक भी था। गाने थे – "ऐ इश्क मुझे और तो कुछ याद नहीं है" – (दानापानी), " हमें दिल में बसा भी लो" – (एहसान)।

थियेटर के ज़माने में उन्होंने दिल लखनवी के एक नाटक "नयी दुल्हन" में भी काम किया था और कहना न होगा कि ये नाटक सालों साल चलते रहते थे, लेकिन अब वो इन सब से किनाराकशी करने लगीं थीं, अब तो या गाना था या वो।

हैदराबाद दरबार और रामपुर ने उन्हें सर आँखों पर बिठाया, लेकिन उनका दिल तो लखनऊ में लगा था। 1938 में ही वो आइडियल फिल्म कम्पनी के लिए लखनऊ आ गयी थीं। सन् 1941 में महबूब साहब के बुलावे पर उन्हें फिल्म रोटी के लिए फिर बम्बई फिर जाना पड़ा था उस सुप्रसिद्ध फिल्म में उनके साथ, चन्द्रमोहन, सितारा और शेख मुख्तार भी थे। अब बम्बई से उनका जी उकता गया था लखनऊ ने उन्हें फिर बुला लिया था। यहीं उनकी शादी काज़ी इश्तयाक अहमद अब्बासी साहब से बात की बात में हो गयी और फिर तो गाना बजाना दर किनार गुनगुनाना भी छोड़ दिया था। इस तरह चार साल तक उन्हें न किसी ने देखा और न सुना। जिसने रेड़ियों के प्रबुद्ध रचनाकार जीत जरधारी साहब द्वारा किए गए एक आकाशवाणी इन्टरव्यू के सारे सवालों का पहले एक ही जवाब दिया था 'गाना...गाना... बस गाना' उनको ही गाने बजाने से खबरदार किया जाना भला क्या बरदाश्त होता।

लखनऊ में वो पहले अख़्तर मंजिल में फिर चाइना बाजार गेट के पास जहाँगीराबाद पैलेस में रहीं, बाग मुन्नू की मतीन मंजिल में भी रहीं और बाद में फान ब्रेक ऐवन्यू उनका मुस्तकिल मकाम बना। वक्त ने करवट ली और 25 सितम्बर, 1948 के दिन आकाशवाणी लखनऊ के स्टूडियों में वो फिर बरामद हुई। इस खुशनाम घटना के पीछे स्टेशन डायरेक्टर एल.के. मेहरोत्रा तथा अस्स्टिेन्ट स्टेशन डायरेक्टर सुनील बोस साहब की कामयाब कोशिश थी और उसी रेडियों माइक ने उन्हें "अख्तरी बाई" से "बेगम अख़्तर" बनाया इनके साथ सारंगी नवाज़ गुलाम साबिर साहब तो साथ निभाते ही थे तबले की संगत के लिए मुन्ने खाँ पर ही भरोसा करती थीं। शहर

की बड़ी–बड़ी महफिलें में उनका होना इज्जत की बात समझी जाती थी, सिटी स्टेशन के क़रीब राजा महमूदाबाद के जश्ने शादी में वो गौहर जान, जददन बाई, रसूलन बाई, वहीदन बाई के साथ बैठी थी तो जनरल हबीबुल्ला और बेगम हामिदा जी की शादी में भी जलवा अफरोज थी। सन् 1951 में उनकी माँ मुश्तरी बीबी ने दुनिया से परदा किया तो वो सदमें में पहुँच गयीं। पसन्द बाग के बीच उनकी कब्र के पास जाकर बैठी रहती थी, माँ बेटी में इतना अटूट अगाव था। उन्होंने आवाज की कभी क़ोई एहतियात नहीं की, बड़ी बदपरहेज़ी की, बड़ी लापरवाहियाँ बरतीं। वो आवाज़ की ताबेदार नहीं रही, लेकिन मुकद्दर ये कि आवाज़ हमेशा उनकी ताबेदार रही। उन्होंने मीर, गालिब, जिगर, शकील, या फ़ैज को ही नहीं गाया, बहजाद और सुदर्शन फाकिर की गज़लों को भी ये एजाज़ दिया। गज़लों के बोल और जज्बात के लिहाज़ से उन्हें मुनासिब रागों में उठाना ही उनका कमाल था। अपनी तपस्या और शैली की सहजता की बदौलत उन्होंने सेमी क्लासिकल म्यूजिक को ज़मीन से उठाकर आस्मान पर बिठा दिया था। ठुमरी दादरे में भी वे बेमिसाल थीं गज़ल की तो मिल्कियत उनके साथ थी ही, जब वो गाती हैं –

फूल खिले हैं, गुलशन गुलशन
लेकिन अपना अपना दामन

तो इस ग़ज़ल में वो जब जब, दामन कहती है तो अलग अलग अर्थों के साथ होता है कभी नाउम्मीदी, कभी बदकिस्मती, कभी बेचारगी तो कभी शिकायतन। ताबे उम्र वो उस बेड़िन की आवाज को कानों में रखे रहीं जिसने कभी गाया था "पूरब देश बंगाले से ननदोई हमारे आए हो।" ये वो बीज था जो लोक शैली की बाँकी बानगी लेकर उनके दादरों में खूब फला फूला। जाने माने फिल्मकार सत्यजीत रे की फिल्म "जलसाघर" में उनका किरदार आज भी उस भव्य अदाकारी का आईनेदार है। बड़ी फनकार होने के साथ साथ वो अपनी शख्सियत नफासत, रहन–सहन और तौर तरीकों में भी

बहुत शानदार थीं। हर एक के दुख–सुख में बड़ी मोहब्बत के साथ शरीक होती थीं। इनमें सबसे हसीन थी उनके अन्दर की औरत जो शराफ़त, मिलनसारी, दरियादिली और दर्दमन्दी में आगे–आगे थी। एखलाक ऐसा कि दूर–दूर महके, हर अमीर ग़रीब उनका अपना हो जाता, हर छोटा उनमें अपनी माँ की छवि देखता और उन्हें "अम्मी" ही कहता। आकाशवाणी पर जिस शानओ–शफकत से आतीं कि लोग आज तक नहीं भूले हैं। कार में अपने साथ बास्केट लातीं, थरमस में चाय होती और साथ में नफीस क्राकरी और नमकीन बिस्किट फिर क्या स्टूडियों में सभी, क्या साजदार और क्या कामदार एक रंग में शामिल हो जाते और उनकी चाय के तलबगार बन जाते।

लखनऊ के भातखण्डे संगीत महाविद्यालय में वो एक अरसे तक विजीटर्स प्रोफेसर रहीं, जापानी जार्जेट पर सुहानी चिकनकारी की साड़ी पहने कार से उतर कर जब दाखिल होतीं तो शमीमेनाज की गमक लोगों के दिलों दिमाग पर छा जाती थीं जो उनके ऑचल से लपकती थी। जैसे उनकी ग़ज़ल गायिकी का अपना अलग अन्दाज था उसी तरह उन्होंने ठुमरी में पूरब अंग और पंजाब अंग का मेल करके एक नया रंग ईजाद किया था जो उनकी अपनी देन थी। लखनऊ के बर्लिंगटन होटल में अस्थायी स्टूडियो बनाकर ग्रामोफोन कम्पनियों ने उनके चार सौ (400) से ज़्यादा रेकार्ड बनाये थे। लखनऊ आकाशवाणी के स्टूडियों में एक रोज़ उनके चले जाने के बाद जड़ाऊ पन्ने का एक भारी झुमका कालीन के किनारे पड़ा मिला जाहिर है कि वो ड्यूटी आफिसर के पास पहुँचा और उन्हें ये समझते देर न लगी कि ये बेशकीमती 'झुमका–कर्णफूल' और किस का हो सकता है। उन्होंने फौरन फोन किया तो घर से बोली "हम तो समझे थे कि गया सो गया, लेकिन ये उसकी तकदीर थी कि जो जुदा न हो सका, खैर मैं खुद गाड़ी से आ रही हूँ लेने के लिए"

कुछ देर बाद वो डयूटी रूम में थीं। डयूटी आफिसर ने कहा "आप ने नाहक ज़हमत की, हम घर तक भिजवा देते।"

तो बोली – "नहीं भई, किसकी जान फालतू है जो इस जोखिम को ले के निकलता" और गहना पर्स में डालकर मुस्कराती हुई लौट गयीं। उनकी प्रधान शिष्याओं में शान्ती हीरानंद, अंजली बनर्जी और रीता गाँगुली हैं जो उस खंजर की धार को आज भी अपने साथ लिये हुये हैं। हारमोनियम, सिगरेट, पान और चाय बेगम साहिबा की चार कमज़ोरियाँ थीं। अपनी सुप्रिया शिष्या रीता गाँगुली के साथ जब–जब कहीं रहीं अपनी पसन्दीदा चाय उनसे ही बनवातीं और जब प्याला सबेरे की किरन के साथ अम्मी के होंठों पर पहुँचता तो बेसाख्ता कहती।

"मजा आ गया, कमबख्त लड़की, दुआएँ ले जाती है सुबह सुबह"

जो आवाज़ पहले शोलों क़ी तरह लपकती थी अब और रियाज़ के साथ समन्दर की तरह गहरी हो चुकी थी। बेगम अख़्तर अपने फन और वतन का सितारा बन कर चमक उठी तो उनकी कदर हर कहीं होने लगी थी और अब वो लखनऊ या हिन्दुस्तान की ही नहीं सारे जहाँन की अज़ीम हस्ती थीं।

उन्होंने अपने हिन्दुस्तान के हर गोशे में ही नहीं गाया, पाकिस्तान, नेपाल, अफगानिस्तान, रूस, यूरोप आदि देशों में भी अपनी कला का प्रदर्शन किया। संगीत अकादमी के सम्मान के अलावा उन्हें पदम्श्री और पदम भूषण से भी नवाजा गया। फिर एक दिन वो भी आया जब वक्त के बेदर्द हाथों ने मलकए ग़ज़ल को 30 अक्टूबर, 1974 को अहमदाबाद की एक गुलजार अंजुमन के बीच से उठा लिया था और तब बेगम का पार्थिव शरीर लखनऊ लाया गया और वो अपनी वसीयत के मुताबिक लखनऊ में ठाकुरगंज के क़रीब पसन्दबाग में अपनी माँ के पहलू में दफ़न हुई।

लहद में सोए हैं, छोड़ा है शहनशीनों को
कज़ा कहाँ से कहाँ, ले गई मकीनों को

□□

कथक की कहानी

उपवन की हवाएं, सागर की लहरें, उमड़ते बादल और मचलती बिजली, चांद तारे, सब में गति की उमंग है। उल्लास के क्षणें को शारीरिक संवेग के साथ जीना ही नृत्य है उसी तरह जैसे कि पानी में मछली मचलती है और गगन में पछी झूमते, लहराते हैं।

मानव समाज में नृत्य की परिभाषा है– ताल और लय के साथ अभिनय करना। नृत्य को संगीत का एक अंग माना गया है– "गीत वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यतं"। भारतीय नाट्यशास्त्र के आधार पर नर्तन के तीन भेद हैं– नाट्य, नृत्य और नृत्त और शास्त्रीय नृत्य में वे सब गुण पाये जाते हैं। भारत में शास्त्रीय नृत्यों की बड़ी पुरानी परम्परा है। यहां चारों वेदों की सहायता से पंचम वेद "नाट्यशास्त्र" की रचना की गई। ऋग्वेद से साहित्य, यजुर्वेद से क्रियात्मकता, अथर्ववेद से रस वैभव और सामवेद से संगीत प्राप्त किया गया। इस पंचम वेद के प्रणेता भरतमुनि हुए। भारतीय शास्त्रीय नृत्यों में कथक, भरतनाट्यम, मणिपुर, कथकली, मोहनी अट्टम, कुची पुडी, ओडिसी आदि प्रमुख हैं। कथक नृत्य शैली का क्षेत्र उत्तर भारत है, और ये सच है कि कथक ही एक ऐसा नृत्य है जो अपने पांव के नीचे की ज़मीन को आस्मान बनाना जानता है।

शब्द कल्प द्रुम से अयोध्या को ही कथक का प्रथम केन्द्र माना गया है। कथक का जन्म मंदिरों के प्रांगण में आराधना छन्दों के साए में हुआ। उत्तर प्रदेश भगवान राम तथा कृष्ण की जन्मभूमि है लीला भूमि है उन्हीं के पावन प्रिय प्रसंगों को लेकर कथक ने कदम बढ़ाए।

ध्रुवपद, कीर्तन शैली में रामायण और महाभारत के कथा प्रकरण इस नृत्यशैली का आभूषण बने। अवध धाम के बाद लखनऊ इस का बसेरा बना।

कथक गुरु विक्रम सिंह ने कथक को लखनऊ का गौरव कहते

हुए कहा है कि लखनऊ में प्राचीन भैरो जी मन्दिर के सामने जो बिन्दादीन महाराज की ड्योढ़ी है वो भारत के कथक नर्तकों के लिए "मक्का" जैसी थी। केवल कथक नर्तक या नर्तकियाँ ही नहीं बड़े–बड़े राजा नवाब सेठ साहूकार भी इस डयोढ़ी पर आते थे सिर झुकाते थे।

गीत वाद्य और नृत्य को ताल सहित समेटना ही नृत्त है। कथक में तीन ताल ही मुख्य आधार है जिसके साथ ततकार के बोल निकाले जाते हैं इसी प्रकार ततकार के टुकड़े परन के टुकड़े और नटवरी के टुकड़े लगते है। परन पखावज के बोल से जुड़ी होती है, जिसमें गत परन, साथ परन, बोल परन और तार परन लगती है इनके साथ ही चक्करदार तिहाई का प्रदर्शन भी होता है। गत वास्तव में गति का ही अपभ्रंश है जो कि नायक नायिका की कथा की अवस्था का प्रस्तुतीकरण है। राधा, कृष्ण का परिवेश, सागर सरिता, पेड़, पहाड़, पशु पक्षी सभी कुछ गत के माध्यम से दिखाए जाते हैं इनके साथ ही कवित्त के भाव भी चलते हैं।

अब आती है अभिनय की बारी, जो कि कथक का सबसे जोरदार अंग है। अभिनय के साथ हस्त मुद्राओं के असंयुत और संयुत भेद दिखा कर स्तुति वन्दना, भजन, कीर्तन, ध्रुपद, होरी, ठुमरी दादरा और ग़ज़ल के भाव प्रस्तुत किये जाते हैं।

कथक नृत्य में नौ रस और नायिका भेद के प्रसंग भी अभिनय के सहारे ही समझाए जाते हैं। कथक का एक अलग कौशल है– पैरों का काम, इसका यहाँ बहुत मतलब है। ये खूबी शायद दुनिया की किसी नृत्य शैली में नहीं है। इस प्रक्रिया में ततकार की लड़ी, तबले के साथ जुगलबन्दी, एक घुँघरू का बाज और अनेक घुघरूओं पर अधिकार दिखाए जाते हैं। तराने की पेशकश इसी कला का कमाल है।

कथक के परम्परागत साज सिंगार में लहंगा, अंगिया और

ओढ़नी के साथ बिंदिया, चूड़ी, मेंहदी, महावर का श्रृंगार रहता था। आभूषणों में माँग बेंदी, झुमके, हंसली, चन्दनहार केयूर (आर्मलेट) करधनी, चूड़ियाँ, कंगन रहे हैं। मुगल काल में कथक में आमद ठाठ और सलामी के प्रकरण शामिल हुए। पोशाक में चूड़ीदार पायजामा, कुरती, महरम, दुपट्टा और अकसर कामदार टोपी भी रहती थी। झूमर, गुलूबन्द तोड़े, झाले और छपके का प्रयोग भी होने लगा। पुराने समय में कथक के साथ संगत में सारंगी, पखावज, मंजीरे का इस्तेमाल होता था, बांसुरी सितार इस की सजावट में जोड़े जाते थे। बाद में तबला हारमोनियम इसका प्रमुख साज बन गए।

कत्थक नृत्य के लिये कहा जा सकता है कि इस नृत्य शैली में मानवीय संवेदना की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति है यानि कि ये ज़िन्दगी के बहुत करीब है। नृत्य की कथक शैली को मध्यकाल में मुगल दरबारों में पनाह मिली। ठाकुर प्रसाद, कालिका बिन्दादीन महाराज ने इस की साधना की तो इस की खूब खूब परवरिश जाने आलम के जमाने में हुई और इस तरह कत्थक नृत्य की गंगा–जमुनी शैली का विकास हुआ।

प्राचीन काल में मन्दिरों, पौराणिक प्रसंगों या धार्मिक कथानकों को अभिनय और हाव–भाव के साथ प्रस्तुत करने वाले कलाकार कथिक कहलाते थे, यही भावात्मक प्रस्तुति आगे चलकर कथक नृत्य का आधार बनी, इस सन्दर्भ में कहा भी जाता है कि "कथा कहे सौ कथक कहावे"। उत्तर भारत रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों का आधार क्षेत्र है इसलिये अवध के रामलीला प्रसंग एवं ब्रज के रासलीला प्रसंग कत्थक के साथ जुड़ते गये हैं।

सारी सृष्टि का संचालन पौरुष और शक्ति से होता है। इस तरह सारे क्रिया–कलापों में ताण्डव और लास्य, दोनों का संयोग मिलता है। यह एक तरह से परमेश्वर के अर्द्धनारीश्वर रूप की सम्पूर्ण व्याख्या है। पुरुष–प्रकृति के रूप में नर–नारी की समानान्तर प्रतिष्ठा का ऐसा अनूठा उदाहरण संसार में शायद कहीं नहीं है।

नटराज शिव का ताण्डव और नटनागर कृष्ण का रास कथक में रचा बसा हुआ है। पद संचालन का अनुशासन, घुंघरुओं की छन्दबद्धता, हाथ–पैरों का काम, वन्दना के पवित्र उद्गार, भक्ति पदों का भाव–प्रदर्शन और दरबारी नाज़ो अन्दाज़, कत्थक के विशिष्ट आयाम हैं। नृत्य एकल हो या सामूहिक ये बारीकियां कथक की पहचान हैं।

लखनऊ का कथक :

लखनऊ के मिज़ाज का नाज़ो अन्दाज़, यहां के सुकोमल सलीके तौर–तरीके, यहां का रहन–सहन, खानपान, यहां की महफिलों और बातचीत में ही नहीं अवध की ललित कलाओं में भी रचा बसा है। साहित्य और संगीत को भी लखनऊ ने इसी रंग में सराबोर किया है जिसका जलवा कथक के लखनऊ घराने में साफ़ नज़र आता है। यहां इस नृत्य कला का रंग भी गंगा–जमुनी है और कथक इसका सबसे कमनीय उदाहरण है। ये संगम स्वभाव का नृत्य है जिसमें हिन्दू मंदिरों की भावपूर्ण परम्परा और मुगल स्टाइल का सुदंर संगम है, ठीक उसी तरह जैसे कि अवध की दिलकश इमारतों में राजपूती तोरण तथा शाहजहानी महराबें गले मिलती हैं। कथक में जो नमक बराबर नख़रा है वो लखनऊ का अपना रंग है। लखनऊ में शेर कह जाता है –

"जब तलक पढ़ न लूं मैं अपनी मुहब्बत की नमाज़
अपनी अंगड़ाई की मेहराब बनाए रखिए।"

चपल चरणों की पवित्रता :

परमब्रह्म परमेश्वर मानवीय परिवेश धारण करके अवतार बन जाता है और इस तरह असीम निराकार भी ससीम आकार पाकर साकार हो जाता है। ब्रह्म सत्ता के इस अवतार क्रिया की ही प्रतिक्रिया जनसत्ता का उद्धार होती है और ये पूरी की पूरी प्रभु लीला "भगवद्नुग्रह" कहलाती है। वैष्णवता में भगवान की इसी अनुकम्पा

की रस वर्षा है, यही संजीवनी है। ये भागवती कथा प्रसंग अतीत में जब गीत–संगीत और अनुशासित नृत्याभिनय के साथ प्रस्तुत किये गये तो कथक ने आंखे खोली कथक के अंकूर फूटे। रसिक मत के भक्त संतों ने अवध की रामलीला और ब्रज की रामलीला में कहीं कथक की मूलधारा को पाया है। सनातन कथक नृत्य शैली में नटवर नागर कृष्ण की ललित लीलाओं की मधुर भाव–भंगिमाओं, राम जानकी के जीवन की करुण उदार, मानसिकता और शिव–शिवानी के ताण्डव–लास्य से सजी हुई अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की पावन त्रिवेणी प्रवहमान होती है।

लखनऊ में बिन्दादीन महाराज की ड्योढी से निकल कर शम्भू महाराज जैसे अभिनय सम्राट और लच्छू महाराज जैसे रस विज्ञानी सारी दुनिया में सुप्रसिद्ध हुए। इसी घर के आंगन में कभी ठुमुक कर चलने वाले बिरजू महाराज आज विश्व विदित कत्थक नर्तक हैं।

अवध दरबार की शान– कथक :

इलाहाबाद की हंडिया तहसील के मिसिर घराने के कथक पर जो उपकार हैं उनसे कौन परिचित नहीं है। श्री ईश्वर प्रसाद मिश्र ने एक स्वप्नादेश के आधार पर नटवरी नृत्य का पुनरुद्धार करने की प्रतिज्ञा की थी। वे अपने तीनों लड़कों अड़गूजी, खड़गूजी और तुलाराम जी को आजीवन नृत्य की शिक्षा देते रहे।

अड़गूजी के तीन पुत्र प्रकाश जी, दयाल जी और हरिलाल जी में से प्रकाश जी ने लक्ष्मणपुर (लखनऊ) को अपना साधना स्थल बनाया था। अठारहवीं सदी के उस दौर में नवाब आसफुद्दौला की हुकूमत थी और प्रदेश के बहुत बड़े भू–भाग में अकाल पड़ गया था। प्रकाश जी नवाब आसफुद्दौला के दरबारी नर्तक बने। उनके वंश ने इस कला को अपनी श्रम साधना से बराबर ही सींचा और यहां तक कि लखनऊ कथक उनके घराने की विरासत बन गया। प्रकाश जी के तीन पुत्र महाराज दुर्गा प्रसाद, महाराज ठाकुर प्रसाद और मानजी

हुए उनमें ठाकुर प्रसाद जी, जाने आलम के नृत्य गुरु हुए। कहा जाता है कि उस समय उन्हें छः पालकी भर कर चांदी का रुपया नवाब ने गुरु दक्षिणा के रूप में दिया था। वाजिद अली शाह की रचित पुस्तक "बनी" में कथक की तमाम मुद्राओं का वर्णन है। कथक को "नटवरी नृत्य" का नया नाम देने वाले ठाकुर प्रसाद जी अपनी नृत्य कला में गणेश परन के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। संयोग की बात है कि अवध राज्य के पतन के साथ–साथ सन् 1856 में उनका भी देहान्त हो गया। उनके भाई दुर्गा प्रसाद जी के भी तीन ही पुत्र थे। बिन्दादीन, कालिका प्रसाद और भैरों प्रसाद। इनमें बिन्दादीन महाराज कथक नृत्य के सिरमौर कहे जाते हैं। उन्होंने डेढ़ हजार ठुमरियों की रचना की, जिन्हें सीखने के लिए गौहर जान तथा जोहराबाई जैसी प्रसिद्ध गायकायें उन्हें घेरे रहती थीं। कालिका बिन्दादीन की जुगलजोड़ी ने कथक की दुनिया में बड़े–बड़े इन्क़लाब किये। लखनऊ में बिन्दादीन महाराज की ड्योढ़ी इस नगर के प्राचीन भैरों मन्दिर के सामने ही है। उनका सारा का सारा घराना आज भी भैरोंजी के मन्दिर की चौखट का मुरीद है।

अगली पीढ़ी में कालिका प्रसाद के तीनों पुत्र अच्छन महाराज, लच्छू महाराज और शम्भू महाराज ने बड़ी शोहरत प्राप्त की। अच्छन महाराज (जगन्नाथ) रामपुर दरबार के नर्तक रहे हैं, वहीं शम्भू महाराज ने उनसे नृत्य की शिक्षा प्राप्त की। अच्छन महाराज का स्वर्गवास सन् 1944 में हुआ। उनके पुत्र बृजमोहन नाथ मिश्र (बिरजू महाराज) ने कथक को नए सिरे से संवारा है। वर्तमान में कथक के साथ बैले प्रयोग तथा नृत्य–नाटिकाओं की परिकल्पना के लिए बिरजू महाराज का सराहनीय योगदान रहा है। शम्भू महाराज ने दिल्ली में कथक शिक्षा का कारोबार किया उनकी भाव–भंगिमा का कोई जवाब नहीं था। प्रसिद्ध सिनेतारिका और नर्तकी कुमकुम ने भावाभिनय उन्हीं से सीखा था। लच्छू महाराज (बैजनाथ) के नृत्य कला में कथक की कमनीयता पूरे शबाब पर देखी जा सकती थी। उन्होंने बम्बई में रहकर अनेक फिल्मों का नृत्य निर्देशन किया। कमाल

अमरोही की फिल्म महल का मुजरा 'ये रात फिर न आएगी', फिल्म 'चार दिल चार राहें' में निम्मी का मुजरा' कोई माने न माने मगर जाने मन' कुछ तुम्हें चाहिए कुछ हमें चाहिए' मीना कुमारी की 'एक ही रास्ता' में 'चली गोरी पी से मिलन को चली' मुग़ले आज़म में मधुबाला का नृत्य 'मोहे पनघट में नन्दलाल' तीसरी कसम में वहीदा रहमान का नृत्य 'पान खाए सैयां हमारो'', काला पानी में नलिनी जयवन्त का मुजरा 'नज़र लागी राजा तोरे बंगले पर' और पाकीज़ा में मीना कुमारी का मुजरा 'इन्हीं लोगों ने लै लीन्हा दुपट्टा मेरा' को कौन भूल सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मिलाप, काले बादल, घर की लाज, तमाशा, शिकवा, मुझे जीने दो, गाइड नीलकमल, जीवन मृत्यु आदि फिल्मों का नृत्य निर्देशन किया। बिन्दादीन, कालिका महाराज के घर के सितारे पं बिरजू महाराज, पं. राम मोहन, पं. कृष्ण मोहन महाराज प्रसिद्ध नृत्यांगना भास्वती मिश्रा, दीपक महाराज आदि आज कथक संसार में कला की किरने बिखेर रहे है। कथक की ये अनन्त कथा अपने देश से उमड़कर सुदूर देशों तक पहुंच चुकी है। इनकी अभिरुचि धीरे–धीरे जनमानस में घर करती जा रही है। आज सभी जगह जहां कला की परख है, मूल संस्कारों सहित नाट्यशास्त्र पर आधारित इस कथक नृत्य का बड़ा आदर किया जाता है। वर्तमान में लखनऊ के पास पं. अर्जुन मिश्र, कपिला राज, मालविका सरकार, कुमकुमधर, कुमकुम आदर्श, सुरेन्द्र सैकिया, मंजरी चतुर्वेदी, मनीषा मिश्रा जैसे प्रतिष्ठत कथक कलाकार हैं।

❑❑

बालम नैया और जलसा नाज़

गुरुदत्त की एक पुरानी प्रसिद्ध फिल्म बाज में गीताराय का गाया हुआ एक अविस्मरणीय गीत है जिसे ओ.पी. नैयर ने धुन दी है और जिसे गीताबाली ने परदे पर एक शानदार नाव पर अदा किया है।

गीत का मुखड़ा है–

मांझी अलबेले, चला रे हौले हौले,

मन की नैया, डगामग डोले।

इस गीत की जो दूसरी पंक्ति है उसकी मूल प्रेरणा लखनऊ में प्रचलित एक गीत परम्परा के मुखड़ें से ली गई हैं और वो मुखड़ा है– बालम नैया डगामग डोले

अवध की संगीत परम्परा में जहां शास्त्रीय, उप–शास्त्रीय और लोक संगीत की परम्परायें रही हैं वहीं कुछ एक विशिष्ट शैलियां भी विकसित हुई है। इसी प्रकार से लखनऊ में पिछले दो सौ बरस तक एक लोकप्रिय प्रस्तुति यहां की पहचान बनकर रही है–

'बालम नैया डगामग डोले'

बालम नैया में "एक अकेले कलाकार" का संगीतमय प्रदर्शन हुआ करता था जिसमें गीत, संगीत अभिनय तथा नृत्य चारों का समावेश होता था। यह प्रस्तुति आध घण्टे से लेकर ढाई घण्टे तक हुआ करती थी और जिसका विस्तार कलाकार की दक्षता पर निर्भर हुआ करता था।

ऐसा माना जाता है कि अवध दरबार की जलसे वालियों ने इस अभिनय सहित नृत्य गीत की शुरुआत की थी जिसकी सबसे बड़ी खूबी अवधांचल की पहचान थी क्योंकि अवध का लोक जीवन इस नाटिका का प्राण था। इस में भाव बताने की भरपूर अदाकारी

महाराज विंदाद्दीन की देन थी। उनसे ही मुस्तफ़ा, राहत जान जैसे भांडों और ज़ोहरा, बेनजीर, बिग्गन हस्सों ने यह कला सीखी थी। बाद में इस फ़न के फनकार कई ठुमरी गायक और नौटंकी के कलाकार भी हुये।

'बालम नैया डगामग डोले' मुखड़ें से शुरू होने वाला ये लम्बा गीत अपने साथ तमाम छन्द–बन्द शेर और क़ते लिए हुए होता था जिसमें एक औरत की पूरी दास्तान दर्ज हुआ करती थी। लोक जीवन में एक नारी के सारे मनोभाव इस वृतान्त में सिलसिलेवार मिलते हैं। बचपन, सखियां, गुड़िया, खिलौने, किशोरींवय झूलों, मेंहदी, पानी, पनघट फिर नव यौवना, प्रेम प्रणय, प्रेमी, पति, मिलन, विछोह, देस–परदेस, विरहा पुकार और न जाने क्या क्या, इसमें शामिल हुआ करता था। इसमें प्रकृति, रितु, धरती, आकाश, पशु पक्षी आदि पूरा नैसर्गिक वातावरण मानवीय अनुभूतियों के साथ सुन्दर ढंग से सजा रहता था।

इस गीत के साथ नायिका बीच में एक जगह कौवे को अपना सन्देशवाहक बनाती हैं और उसके द्वारा अपने प्रियतम तक अपनी विरह व्यथा भेजती हैं। इससे पहले वो भावों में ये दुख दर्द प्रकट करती है कि अब बिना प्रियतम के क्या सिंगार और क्या संदेश। संदेश पहुंचाने वाला यहां कोई नहीं, हवा, बादल, मौसम और तब वो नीचे दाना फेंक कर डाल पर बैठें कौवे को उतार लेती हैं। नीचे आने पर आंचल से ढक कर हाथ से पकड़ कर उसके परों पर चदंन से लिखती हैं।

कागा रे

मोरे पिया से संदेशा कहियो जाय

इस गीत के साथ उसकी पूरी आपबीती रहती है, जिसमें दादरा, दोहे और अलग–अलग से चुने गए मौजू अशआर लगाए

जाते हैं।

दोहों के कुछ नमूने यहां प्रस्तुत है–

कागा सब तन खाइयो, और चुन–चुन खइयो मास
दो नैना मत खाइयो, मोहे पिया मिलन की आस
साजन आए हैं सखी, क्या मनुहार करूं
थाल भरूं गजमोतिया, तापर नैन धरूं

मलियावी दादरे के बीच बीच किस तरह रूबाइयात होती थी उसका एक नमूना पेश है–

मेरी चुनरी पे आयी बहार, बेदर्दी ओ बालमा
शेर– एवज़ में दिल के ये तुमने मुझ अज़ाब दिया
बहुत बुरा किया दिल तुमकों ऐ जनाब दिया
न जाने कौन सी दुनिया में जा के भूल गए
न आप आये, न नामा, न कुछ जवाब दिया
खत लिख लिख के भेजे हज़ार, बेदर्दी हो बालमा।
शबे विसाल जो आया वो गुल पसन्द एजाज़
कहा, लो देख लो, जी भर के आज सब अन्दाज
गरज़ कि होने लगी गुफ्तगू राज़ी ओ नियाज़
कहा लो जाते हैं, मुर्गे सहर ने दी आवाज़
निरमोहिया ने डाली पुकार, बेदर्दी हो बालमा

इस गीत लड़ी में 16 मात्रा, 14 मात्राए और कहरवा ठेके का भरपूर इस्तेमाल होता है। कहीं कहीं एक ताल का प्रयोग किया जाता था। छोटे बड़े ख्याल राग रागिनियां बहुत सुंदर ढंग से मेहनत के साथ पिरोयी जाती थीं, इस गायिकी में तानें तेज और चंचल भी होती

जाती थी। विरहणी अपने बालम के जुदा होकर जाने के वक्त़ का मंजर इस दादरे से अदा करती थी –

"आधी रात जब छोड़िया पे बैठे झपट के पकड़ी लगाम,
आज की रैन रहो मेरे सैंया, भोर होत चले जइयों,
बलम, तनिक बेरिया बोल बतलाय लेव"

नायिका के पिया परदेश में है सन्तान गोद में है विदेश की राह पूछती हे राहगीरों के हाथ जोड़ती है चिरौरी करती हैं लोग बारहा समझाते हैं कि राह कठिन है मंजिल दूर है लेकिन वह मानती नहीं है। अपना दुखड़ा रोती गाती चली ज़ाती हैं।

लखनऊ के कश्मीरी भांड, कदर पिया, मुख्वत पिया, जेसे ठुमरी गायक सबके सब कारचौबी का दुपट्टा ओढ़ ओढ़ कर इस दास्तान की भाव भंगिमाएं दिखाते थे। चौक की डेरेदार तवायफें इसे गाने में बहुत पारंगत थी। चौक की ही अल्लाह बांदी, नज्जो, सब्जी मंडी की मुग़ल जान और नक्खास की मुश्तरी, हीरे वाली मुन्नी, बालम नैया की नामी अदाकारों में थी।

लखनऊ की आखिरी महफिलों में बम्बई और पाकिस्तान से आए कुछ कदरदानों ने ये बात उठायी थी कि लखनऊ में ही बालम नैया के कलाकार नहीं रहें तो ठाकुर प्रसाद "मनऊ" नाम के प्रसिद्ध तबला वादक ने कामदानी का एक लाल, दुपट्टा मंगवाकर इस गायिकी का रंग दिखा दिया था। इस महफिल में मौजूद होने का गौरव मुझे भी हासिल हुआ था।

फिर वो वक्त कुछ इस तरह बदला कि न वो गाने वाले रहे और न सुनने वाले बचे और इसके साथ ही लहरों पर डोलने वाली ये नाजुक नैया डूबकर रह गयी।

जलसानाज़

आठ दल के कमल जैसी खिली हुई भारतीय संस्कृति की

अटूट परम्परा और इसके सौन्दर्य का सौरभ हमेशा हर तरफ बंटता रहा है। इन कलारंगों की अमरता में भारत की लोकधर्मी कलाओं की बड़ी भूमिका रही है। हमारे देश के सतरंगे अंचल में लोक नाट्य की प्रभावशाली विधाएँ हैं, जिनका कोई क्रमबद्ध इतिहास अलिखित है फिर भी ये अपनी जीवन्तता की कहानी अपने साथ लिए हुए हैं।

संस्कृत नाटकों के बाद भारत की नाट्य परम्परा धीरे–धीरे गाँव देस में जाकर खो गई, परन्तु समय की करवट के साथ–साथ इसने लोकनाट्य के रूप में आँखे खोलीं। जो कहीं–कहीं स्वांग, भगत, सांगीत, नौटंकी और रहस के रूप में उभरी हैं। इनमें भगत परम्परा को ही भंड़ैती का मूल माना गया है। इसमें कोई शक नहीं कि अमीर खुसरो का फन भी इस शग़ल में काम आया है। भांड़ नक्काल और भगतिए उन्हीं का दम भरते रहे हैं। 13वीं 14वीं सदी में लोक नाट्य के रूप में स्वांग शैली उभरी जिसका साधारण अर्थ है किसी का भेष रखना और इस तरह भेष बदलने वालों को बहुरूपिया कहा जाने लगा था क्योंकि ये लोग किसी न किसी की हूबहू नकल किया करते थे।

कबीर स्वांग का नाम लेते हैं, तो जायसी ने भी इनका जिक्र किया है। आईन ए अकबरी में भगत परम्परा का उल्लेख मिलता है। पंजाब के शायर मौलाना अकरम गनीमत ने भगतबाजों का गीत, संगीत, नृत्य और नकल में महारथ रखने का जिक्र किया है। "फरहंगे आसफिया" में भगत के विषय में लिखा है' "ये हिन्दुस्तान का एक धार्मिक स्वांग है, जिसमें भगवान नरसिंह अवतार और श्रीकृष्ण आदि का रूप धरा जाता है।"

मुग़ल बादशाह औरंगजेब के समय तक भगत परम्परा बड़ी गौरवपूर्ण थी फिर औरंगजेब के समय भगतिए खानाबदोश हुए और बाद में परिवर्तत होकर भांड बने। इस तरह भडैंती में धार्मिकता बाक़ी नहीं रह गयी।

भांड़ों की परम्परा दिल्ली से आकर लखनऊ में खूब पनपी। चुहलबाजी इसका खास उपक्रम था–

अड़ंग–बड़ंग, तूती जबरजंग

भाई जी का थान, खेलो चौगान

हरिया हरबस, ये नौ, वो दस

उलटी सीधी पैतरे बाज़ी, नकलें लतीफे और उलटबाँसियाँ इनके खास हथियार हुआ करते थे–

चढ़ गई भैंस बबूल पर, लप–लप गूलर खाय

मछली नाचे बाग में, मेढकी उड़ि उड़ि जाय

नवाब आसफुद्दौला के वक्त में ये भांड़ लखनऊ आये थें नक्क़ाली उनमें बादशाह नसीरुददीन हैदर के समय से शुरू हुई थी। नकलों में सबसे पहला करतब होता था घोड़ा छोड़ना। महफिल में चार कदम चलते थे भांड़ और फिर–

पाँव के नीचे आया रोड़ा, तले सवार है, ऊपर घोड़ा

आहीरे आहीरे, आहीरे आहीरे

एक भांड़ – ऐ खुश जमालों, नसीब वालों, कद्रदानों, मेहरबानों हमारे दादा जी, नवाब साहब के परदादा जी जब जन्नत पहुँचे तो क्या देखते हैं–

दूसरा – क्या देखते हैं

एक– भांड़, भांड़ ही भांड़, भांड़ ही भांड़

नवाबी युग और ब्रिटिश शासन काल तक जनमानस में भांड़ों की बड़ी कद्र रही, लखनऊ के शाही जमाने में भांड़ों में नूरा भांड़ का बड़ा नाम रहा वो हर महफिल की ज़ीनत बना। आखिरी मसनद नशीन मिर्जा बिरजीस कद्र की ताजपोशी में भी भांड़ों ने मुबारक बाद

कही थी।

इसी सिलसिले में खिलौना, कायम जंग अली, जहाजी, चमन, अल्ताफ, अल्लारखा, जमशेद, और तवंगर नाम के भांड़ हुए हैं जिनकी अन्तिम कड़ी जहाँगीर था। ये भांड़ ठुमरी, ग़ज़ल, दादरा, भजन और कथक के उस्ताद हुआ करते थे और भगतियों की तरह सोरठा, चौबोला, लावनी, दोहे, शेर, लंगड़ी–लावनी, ग़ज़ल आदि गाते थे। सारंगी, नक्कारा तबला, मंजीरा या झील का नक्कारा इनके साज़ों में हुआ करता था। अवध के नगरों की बाहरी परिधि में इन्हीं दिनों स्वाग भरथरी का चलन भी अपने शबाब पर था जो सन् 1910 तक बराबर अमल में रहा है।

अमरोहा शैली के स्वांग सपेरा, स्वांग भरथरी और स्वांग रूपबसन्त की तरह लखनऊ में उस्ताद जीवन सिंह के खेल चलते थे। श्री शिव चरण लाल "प्रेम" जी (सुप्रसिद्ध लेखक मुद्राराक्षस जी के पिता) लखनऊ की नागर सभा तथा स्वांग सपेरा के आख़िरी उस्ताद थे।

"जलसा" बादशाह नसीरूददीन हैदर के वक्त का नाच रंग था। इसमें 60–70 नाचने गाने वालियाँ रितु के उमंग भरे सौन्दर्य का कोरियोग्राफी में प्रदर्शन करतीं थीं जैसे बसंत में सभी पीले परिधान, सोने के गहने और गेंदे के फूलों का सिंगार करती थीं इसी तरह सावन में हरियाले तथा शरद में रूपहले आभरण रहते थे। होली पर बहुरंगी ओर गर्मियों में गुलाबी समां बांधा जाता था। इस संगीत–नृत्य प्रदर्शन में रितुओं के अनुसार रागों की मुनासबत रखी जाती थी। वाद्यों में सितार, सारंगी, बाँसुरी और तबला रहते थे।

नाच में एक सी भाव भंगिताएँ एक रंग में जब एक साथ पेश होती थीं तो उसका नज़ारा स्वर्गिक आनन्द की सृष्टि करता था। फिर उसके बाद जाने आलम ने जिस रास को रहस के पैमाने में उतारा है कर्पूर मंजरी में उस रास को नाट्य रासक से अलग माना

गया है। हाँ मथुरा वृन्दावन आगरा की भगत परम्परा को जरूर रहस का नाम दिया गया है फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि रहस की उत्पत्ति रास से ही हुई है। श्री कृष्ण की रास लीला के ही आधार पर वाजिद अली शाह ने कुछ नये प्रयोग किये जिसमें लखनऊ की मिली जुली संस्कृति की अच्छी पहचान मिलती है ओर इसे "किस्सा राधा कन्हैया" कहा गया। रहस के नृत्यों में उन्होंने 36 ईजादें की उनका ये लोक नृत्य नाट्य, खुले मंच पर सारी–सारी रात चलता था। इसका केन्द्र कैसरबाग की रहस मंजिल थी। परीखाने की नाचने गाने वालियाँ और उनके साजिन्दे इस नृत्य संगीत प्रधान तमाशे को अंजाम देते थे। माहताबुद्दौला बहादुर ने लिखा है–

"रहस मंजिल है परियों का अखाड़ा
अजब कमरा सुलेमानी बना है
दरख्शां जलवागर है साले तामीर
मकाने जश्ने खाकानी बना है।"

रहस लखनऊ का शाही स्टेज था जब कि इन्दर सभा जनता का मंच था रहस का कार्यक्रम कैसरबाग की कोठी लंका में हुआ करता था रहस में प्रमुख पात्र राधा कन्हैया हुआ करते थे। राधा की भूमिका सुल्तान परी और कन्हैया की भूमिका शाहरूख परी अदा करती थीं। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि जाने आलम स्वंय सवा लाख का मुकुट पहन कर कन्हैया का रूप रखते थे। चार परियाँ, ललिता, विशाखा आदि सखियाँ बनती थीं इनके अलावा देव, जोगन, पनिहारनें, मक्खन वालियाँ और मुसाफिर भी उसमें होते थे। वास्तव में इस गीत नाट्य परम्परा में कोई नाटक या अभिनय नहीं होता था। जब परवावजी 36 तरह से टुकड़े बोलता था तब सखियाँ बाजू बांध कर जंजीर बन्दी करके नाचती थी या फिर एक दूसरे के दुपट्टे पकड़कर गोल बनाकर नाचती थीं जैसा कि जलसा में होता था।

कन्हैया – राधा जी के बदन पर बिंदिया अति छवि देत।

मानों फूली केतकी भवंर वासना लेत।।

राधा – आओ प्यारे मोहना, पलक ढाँपि तोहे लेंहु।

न मैं देखू और को, ना तोहि देखन देऊ।।

जाने आलम रहस के मामले में अपने फ़न के अकेले उस्ताद थे। उनके लिखे तीन रहस उनकी किताबों में मिलते हैं। पहला मसनवी दरियाए तास्सुक, दूसरा रहस नइया, तीसरा रहस बहरे उलफत, लेकिन सिर्फ रहस राधा कन्हैया का किस्सा ही अब आलेख में उपलब्ध है। इन जीवित विद्यधाओं के चिरन्तन होने का मूल यही है कि इन्होंने समय की सुगन्ध से अपने आपको सुवासित रखा है। रहस परम्परा के आस पास की सभा परम्परा ने भी अंगड़ाइयाँ लीं। ऐसे ही देश विदेश का रंग लिए हिन्दुस्तानी नाट्य परम्परा का एक जाना माना पड़ाव है इन्दरसभा। जिसने जाने आलम के जमाने में आँखे खोली थीं। इन्दरसभा के मंचन में कलात्मक सांगीतिकी के साथ नाटकीय तत्वों का विकास भी देखने में आया और यही हिन्दुस्तान का पहला आपेरा था जिसने लखनऊ में जनम लिया।

सन् 1852 में पहली इन्दरसभा सैयद आग़ा हसन अमानत लखनवी ने लिखी जिसका पहली बार मंचन लखनऊ में सन् 1854 में हुआ था। इन्दर सभा की कथावस्तु हिन्दू देवमालाओं, किस्से कहानियों, मसनवियों और दास्तानों पर आधारित है जिसमें पंडित दया शंकर 'नसीम' की गुलजारे नसीम का प्रभाव विशेष है। अमानत की इन्दरसभा में आठ पात्र हैं। राज इन्द्र, शहजादा गुलफाम, पुखराज परी, नीलम परी, लाल परी, सब्ज परी, लालदेव और कालादेव। इन्दर सभा नाटक कम है दरअस्ल नाच और गाने की एक निराली किस्म की महफिल है। सभा के गाने रागिनियों में हैं जिनके लिए गीत से पहले धुनों के निर्देश भी दिये गये हैं, बहार, खमाज, देश, काफी, होरी, भैरवी, वगैरा–

में हुआ था। इन्दर सभा की कथावस्तु हिन्दू देवमालाओं, किस्से कहानियों, मसनवियों और दास्तानों पर आधारित है जिसमें पंडित दया शंकर 'नसीम' की गुलजारे नसीम का प्रभाव विशेष है। अमानत की इन्दरसभा में आठ पात्र हैं। राज इन्द्र, शहजादा गुलफाम, पुखराज परी, नीलम परी, लाल परी, सब्ज परी, लालदेव और कालादेव। इन्दर सभा नाटक कम है दरअस्ल नाच और गाने की एक निराली किस्म की महफिल है। सभा के गाने रागिनियों में हैं जिनके लिए गीत से पहले धुनों के निर्देश भी दिये गये हैं, बहार, खमाज, देश, काफी, होरी, भैरवी, वगैरा—

महफिले राजा मे पुखराज परी आती है

सारे माशूकों की सरताज परी आती है

इन्दर सभा की चार सभाएँ लखनऊ में प्रसिद्ध हुयी है। मिर्जा अमानत की इन्दर सभा, मदारी लाल की इन्दर सभा, मुंशी खादिम हुसैन "अफसोस" की इन्दरसभा, "बज्मे सुलेमान" और लाला भैरों सिंह की सभा "जश्ने परिस्तान"। रामलीला, रासलीला, भगतबाजी और बहुरूपियों की अविरल लोक परम्पराओं में ही भंड़ैती, रहस और इन्दरसभा को भी बसेरा मिला था।

ये बात और थी कि नागरी अभिरूचि के अनुसार इनमें दास्तानगोई और मुजरे की बानगी भी पायी जाती थी। अवध में कला और साहित्य के उस खुशरंग दामन की आईनेदारी करने वाली इस गीत नाट्य परम्परा ने सिर्फ अपने दौर की अभिरुचियों की बखूबी आईनेदारी ही नहीं की थी पारम्परिक रंगमंच को एक जिन्दगी देकर बरकरार भी रखा था।

❑❑

लखनऊ भातखण्डे संगीत महाविद्यालय

भारतीय संगीत हमारे देश की आध्यात्मिक विचारधारा की कलात्मक साधना का नाम है, जो परमान्द तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए है परन्तु उत्तर मध्यकाल के विलासी वातावरण में संगीत कला को भोग–विलास की सामग्री बना कर कोठों पर पहुंचा दिया गया था और इस तरह उसे देह व्यवसाय के साथ जोड़ा जा चुका था। इसके मर्यादाहीन हो जाने के बाद सभ्य समाज गायन–वादन और नृत्य से कतराने लगा था। वहां केवल लोक संगीत, और लोक नृत्य ही रह गया था जिसकी अनवरत प्रतिष्ठा थी।

आधुनिक काल में जब हर ओर जन–जागरण की लहर थी और सामाजिक मूल्यों को फिर से जगाए जाने की बात उठी तो संगीत के पुनरुद्धार का भी आन्दोलन हुआ। लखनऊ का भातखण्डे संगीत महाविद्यालय (पुराना नाम–मैरिस म्यूज़िक कालेज) इसी आन्दोलन की देन है।

10 अगस्त सन् 1860 को बालकेश्वर महाराष्ट्र में जन्में भारतीय संगीत मनीषी पं. विष्णुनारायण भातखण्डे जी ने इस नगर में वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति से संगीत की शिक्षा देने के लिए यहां एक संगीत विद्यालय की स्थापना करने की योजना बनायी। इसके लिये उन्होंने पहले देश भर में संगीत प्रेमियों की सहमति प्राप्त की। उनका लक्ष्य ही संगीत को राजदरबारों, सामन्तों, वेश्याओं के कोठों और मुजरे की महफ़िलों से निकाल कर स्वच्छ पर्यावरण में लाना था। उन्होंने 1916 में बड़ौदा के विशाल संगीत सम्मेलन में विचार विमर्श किया और फिर उसी आशय से 8 जुलाई सन् 1926 को कैसरबाग चाइना बाज़ार के निकट की तोप वाली कोठी में एक अखिल भारतीय संगीत महाविद्यालय स्थापित किया गया। पं. विष्णु नारायण भातखण्डे ने भारत भर में भ्रमण कर के संगीत सूत्र खोजे और फिर "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका"

स्वरलिपि सहित प्रकाशितकी। संस्कृत भाषा में भी आपकी दो पुस्तकें 'लक्ष्य संगीत' तथा 'अभिनव राग मंजरी' प्रसिद्ध हैं।

भातखण्डे जी की पवित्र प्रेरणा के इस पुण्य प्रतिष्ठान के लिये रूपरेखा सन् 1924–25 में लखनऊ में ही आयोजित होने वाली अखिल भारतीय संगीत परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में तैयार की गई थी। महाविद्यालय निर्माण में सबसे आगे राय उमानाथ बली ताल्लुकेदार दरियाबाद अवध और तत्कालीन शिक्षा मन्त्री राय राजेश्वर बली साहब थे। इनके साथ राजा बरखण्डी, राजा नवाब अली (अकबरपुर, जिला सीतापुर वाले), नवाब साहब रामपुर, रायबहादुर चन्द्रबली और श्री अतुल प्रसाद सेन जी थे। राजा नवाब अली हारमोनियम बजाने में इतने पारंगत थे कि उनको अपने इस हुनर के लिए आज तक याद किया जाता है। उसी तोप वाली कोठी में इस विद्यालय का विधिवत् उद्घाटन 16 मार्च 1926 की यूनाइटेड प्राविन्सेज़ आगरा एवं अवध के गवर्नर सर विलियम मेरिस द्वारा किया गया था और उसी समय इस संगीत विद्यालय का नाम "मैरिस कालेज़ आफ़ हिन्दुस्तानी म्यूज़िक" रखा गया। प्रारम्भ में ये सभी संगीतप्रेमी स्वयं तानपूरा, हारमोनियम, सितार, तबला आदि वाद्य लेकर फ़र्श बिछाकर बैठते थे, गाते–बजाते थे क्योंकि सीखने वाले लड़के–लड़कियां आसानी से आने को तैयार नहीं थे। इसी दौर में क़ैसरबाग चौराहे के उस पार नज़ीराबाद के नुक्कड़ पर फल और सब्ज़ी की बाज़ार "मैरिस मार्केट" का निर्माण हुआ था। 20 मार्च सन् 1926 को इसे राज्य सरकार ने अपना संरक्षण दिया था।

कर्मठ संगीत उपासकों के निरंतर प्रयास से कुछ छात्रों ने विद्यालय में प्रवेश लिया और जब सीखने वालों की संख्या बढ़ी, तो कौंसिल अगस्त 1928 में विद्यालय को पुराने चैम्बर्स व कैनिंग कालेज के भवन में ले आया गया जिसका भवन 1878 में अवध के परम्परागत स्थापत्य में बनवाया गया था। भातखण्डे जी की प्रेरणा से ही ग्वालियर का माधव संगीत विद्यालय और बड़ौदा का म्यूज़िक

कालेज क़ायम हुआ। मैरिस म्यूज़िक कालेज के पहले प्रधानाचार्य श्री माधव राव केशव जोशी जी बने। जब वो सितम्बर 1928 को सेवानिवृत्त हुए तो भातखण्डे जी के प्रमुख शिष्य श्री कृष्ण नारायण रतनजंकर जी प्राचार्य हुए जिनकी निष्ठापूर्ण आजीवन सेवाएं सदा इस विद्यालय के साथ याद की जायेंगी। भातखण्डे संगीत महाविद्यालय का एक गौरव यह भी है कि यहाँ बड़े से बड़े संगीत विदों ने गायन–वादन और नृत्य की शिक्षा दी है, तो बड़े नामी कलाकार यहाँ के स्नातक रहे हैं। श्री गोविन्द नारायण नातू, लखनऊ के उस्ताद छोटे मुन्ने खाँ ख़यालिए तथा उस्ताद अहमद खाँ ध्रुपदिए यहां गायन की शिक्षा देते थे। इसी तरह उस्ताद आबिद हुसैन खाँ ख़लीफा तबला वादन और डॉ. सखावत हुसैन खाँ सरोद वादन सिखाते थे। इनके अलावा रहीमुद्दीन खाँ डागर, अहमद जान थिरकवा, बेगम अख़्तर, वी जी जोग, उस्ताद यूसुफ़ अली खाँ (सितार) जैसे सुविख्यात गुणवन्त शिक्षक रहे हैं। सन् 1936 में यहां कथक नृत्य की विधिवत् शिक्षा दी जाने लगी। इसका उत्तरदायित्व उस समय श्री रामलाल कथिक ने संभाला था। फिर मैरिस संगीत महाविद्यालय की स्थापना सन् 1939 में हुई।

सन् 1960 में जब स्वनामधन्य भातखण्डे जी की जन्मशती मनायी गयी तो उनकी श्रद्धांजलि में इसका नया नामकरण कर दिया गया– "भातखण्डे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय" तदुपरान्त मार्च 1966 से इसे उ.प्र. सरकार के तत्वावधान में कर दिया गया। राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद तथा राज्यपाल कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जी नवम्बर 1952 में इस संगीत संस्थान की रजतं जयन्ती में भाग लेने के लिए यहां पधारे थे।

भातखण्डे संगीत महाविद्यालय में नामवर स्नातकों में डॉ. सुमति मुटाटकर, श्री के.जी. शिण्डे, फिल्म उद्योग के प्रसिद्ध गायक पहाड़ी सान्याल, संगीतकार रोशन, सज्जाद हुसैन गायक तलत महमूद, मुजद्दिद नियाज़ी, दिलराज कौर, पं. रघुनाथ सेठ,

डॉ सुशीला मिश्र, अनूप जलोटा और सपना अवस्थी का नाम लेना ही होगा। बहुत कम लोग जानते हैं कि भारतीय रजत पट की प्रथम महिला संगीतकार सरस्वती देवी (असली नाम खुर्शीद हुरमुज पारसी) ने इसी विद्यालय में संगीत सीखा था उनकी प्रसिद्ध फिल्मों के नाम हैं – जीवन नैया, अछूत कन्या, कंगन, झूला, नया संसार आदि।

आज लखनऊ का यह सुप्रसिद्ध संगीत संस्थान भातखण्डे संगीत विश्वविद्यालय (डीम्ड युनिवार्सिटी) की प्रतिष्ठा पा चुका है जिसकी उपकुलपति प्रसिद्ध कथक नृत्यागंना डॉ. पूर्णिमा पाण्डे जी है।

संगीत (संगीत, वादन, नृत्य) के सन्दर्भ में यहां लखनऊ के वरिष्ठ गायकों में पं. गणेश प्रसाद मिश्र, पं. सुरेन्द्र शंकर अवस्थी, श्री कृष्ण कुमार कपूर, पं. धर्मनाथ मिश्र, उस्ताद गुलशन भारती, प्रो. कमला श्रीवास्तव, मालिनी अवस्थी, हिरण्यमयी तिवारी और विशेषकर श्रीमती सुनीता झिंगरन का नाम लिया जाएगा। इसी प्रकार तबले के लिए अहमद जान थिरकुआ, खलीफ़ा आफ़ाक हुसैन, मुन्ने खाँ साहब, पं. शीतल प्रसाद मिश्र, श्री सुधीर वर्मा, पं. गिरधर प्रसाद मिश्र, उस्ताद इल्मास हुसैन, पं. रविनाथ मिश्र, पं रत्नेश मिश्र लखनऊ की शान बने। पखावज वादन के लिए लखनऊ को पं० राज खुशी राम और पं० राम पाठक पर गर्व रहेगा। सितार में तजम्मुल खाँ और सिब्ते हसन मशहूर हुए तो सारंगी में श्री मुहम्मद खाँ, श्री कृष्ण कुमार मिश्र, भोला मिश्र, एम.डी. नागर और विनोद मिश्र जी का नाम है। सरोद के लिए नरेन्द्रनाथ धर को भुलाया नहीं जा सकता तो वायोलिन में जी.एन. गोस्वामी के बाद अशोक गोस्वामी और शुमाशा मिश्रा ने काम किया। मणिपुरी नृत्य में वनमाली सिन्हा और भरत नाट्यम में पद्मा सुब्रह्मण्यम तथा लक्ष्मी श्रीवास्तव ने प्रसिद्धि पायी।

नगर के संगीतकारों में श्री एच. वसन्त, श्री विनोद चटर्जी, श्री केवल कुमार, उत्तम चटर्जी, रविनागर, कैलाश श्रीवास्तव और हेम सिंह अग्रणी हैं। लखनऊ के लोकप्रिय भजन गायकों में अग्निहोत्री

बन्धु, किशोर चतुर्वेदी, स्वाति रिज़वी, अंजना बनर्जी, मुक्ता चटर्जी, अमृता नन्दी हैं तो गज़ल गायिकी में इकबाल अहमद सिद्दीक़ी, युगान्तर सिंदूर, इलियास खां, विवेक प्रकाश, जमील अहमद, कमाल खां और कुलतार सिंह है। अवधी लोकगीत के खेमे में सर्वश्री केवल कुमार, शकुन्तला श्रीवास्तव, अन्नपूर्णा देवी, आभा रानी वर्मा, रीना टन्डन, गौरीनन्दी, पद्ना गिडवानी, विमल पंत, प्रेमलता, अनिल त्रिपाठी और मिथिलेश कुमार प्रसिद्ध हैं।

□□

नाट्यकला और लखनऊ

भरत मुनि का नाट्य शास्त्र वास्तव में धरती पर नाटकों के अवतरण का पहला चरण है। भरत का अभिनय विज्ञान भी वेद विहित है और वही नाट्कों का मूल है इस बात को सारा संसार मानता है। जहाँ हिन्दुस्तान को अध्यात्म दर्शन और विज्ञान का जगदगुरु माना जाता है, संगीत, नृत्य और नाट्य में भी भारत ने ही विश्व का मार्ग दर्शन किया है।

कालीदास के संस्कृत नाट्क तो नाटय कला के स्वर्ण स्तम्भ है। बारहवीं सदी में नाटककार वत्स राज के नाटक 'समुद्र मन्थन' और 'रुक्मिणी हरण' ने नाट्कों की दुनिया में क्रान्ति पैदा की। पौराणिक प्रकरण और ईहामृग के ये नाटक लोक प्रियता की कसौटी पर खरे उतरे थे।

लखनऊ ने तहज़ीब की दुनिया में जहाँ एक तहलका पैदा किया था। ललित कलाओं की परवरिश की जिम्मेदारी भी अपने ऊपर ली थी। इस तरह नाटय परम्परा को नयी जिन्दगी देने का काम भी अंजाम दिया। नाटक की इस लम्बी यात्रा के दौरान तमाम भाषाओं के पड़ाव आये और कहीं कहीं श्रृंखला की कड़ियां बिखर भी गयी।

उन्नीसवीं सदी में जब नाट्य कला आँखे मल कर जाग उठी तो सामने हिन्दी–उर्दू की मिली जुली बोली 'हिन्दुस्तानी' के नाम से सामने खड़ी थी। यही तत्कालीन नागरिक जनता की जबान थी जिसमें दरबारी प्रभाव से फ़ारसी का कुछ ज्यादा ही जोर था।

अवध के बादशाह नसीरुद्दीन हैदर का शासन काल नाट्य कला के पुर्नजन्म का युग कहा जाना चाहिए। ये नृत्य नाट्य पूरी तरह से नाटक के करीब नहीं थे जो महल में बादशाह की खुशी की खातिर "जलसा" नाम से प्रस्तुत किये जाते थे। इसके लिए तमाम जलसेवालियाँ महल में मुलाज़िम थी जो नाच गाने, हाव भाव और

अभिनय कला में कुशल होती थी। ये बात और थी कि इस तरह के मनोरंजक कार्यक्रम जनता की नजर से बहुत दूर चहारदीवारी के भीतर ही मुमकिन थे। जनता लोक नाट्य स्वांग या नटी के तमाशे में मगन रहती थी।

अवध सल्तनत में जाने आलम का ज़माना इस कला के विकास और लालन पालन का युग था जब "शाही स्टेज" के माध्यम से उन्होंने हिन्दुस्तानी नाट्य शैली को प्रस्तुत किया। इस सन्दर्भ में कैसरबाग में खेला जाने वाला 'राधा कन्हैया रहस' उल्लेखनीय है लेकिन दर्शकों के एतबार से ये एक खास किस्म का प्रदर्शन था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में ही मिर्ज़ा अमानत की "इन्दर सभा" ने भी लखनऊ में धूम मचा दी। दरअसल यह शासकीय स्तर पर किये गये प्रयास को जनता की तरफ से एक जोरदार जवाब था। जो जनता द्वारा जनता के लिए पेश किया गया था। जनस्तर पर सबके लिए होने वाले 'इन्दर सभा' के प्रर्दशनों ने नाटक को जनता में लोकप्रिय बनाने का काम किया था। लखनऊ ने इस क्षेत्र में भी इस तरह अपनी पहल दर्ज की थी। पतन शील संस्कृति, नवाबी का विलास पूर्ण वातावरण और काल्पनिक कुलाचों के कारण 'इन्दर सभा' कोई सुरुचि पूर्ण या आदर्श नाट्य प्रसंग नहीं माना गया। यहीं कारण है कि उसके बाद ही देश समाज के हित में राष्ट्रीय चिन्तन धारा के समर्थक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन्दर सभा का मुँह तोड़ जवाब 'बन्दर सभा' लिख कर दिया था और भारतेन्दु ने नाटक को हिन्दी में स्थापित करने का जो अथक प्रयास किया है उससे किसी को इनकार नहीं हो सकता। ये बात और है कि तत्कालीन हिन्दी पर उर्दू का अच्छा खासा प्रभाव था जिसने प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व को सदा के लिए दोराहे पर खड़ा करके छोड़ दिया है। प्रेमचन्द जी ने भी 'शबेतार' 'कर्बला' आदि जो उर्दू नाटक लिखे है वह अपने आप में बेजोड़ है।

ब्रिटिश शासन काल के दौरान लखनऊ के विशेष लोक नाट्य

भतृहरि, दिलदार नगीना, और स्वांग सपेरा रहे है। लखनऊ के चौपटियां मुहल्ले में दिलाराम की बारादरी इसका ख़ास मकाम थी।

चौक के दहला कुआँ इलाके में भतृहरि खेला जाता था जिसे जनता भरथरी के नाम से पुकारती थी। भतृहरि के राग और विराग को रोचक कथा इस लोक नाट्य का विषय था। हिन्दू संस्कारों और परम्पराओं के प्रतीक राजा भरथरी और रानी पिगंला वाले इस सशक्त कथानक में नाटकीय प्रसंग वाले घटना क्रम और गीत संगीत के लिए अच्छी संभावनाएं थी। लेकिन बाजारू रस रंग के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। इसलिए रंगीले रसिक जनों के मनोंरंजन के लिए चौक के दूसरे इलाकों में 'दिलदार नगीना' के तमाशे होनें लगे जिसमें नाच, गाने, मुजरें, दादरे और उर्दू की लचकदार मसनवी का भरपूर इस्तेमाल होता था। इन सभी खेलों में नायिका की भूमिका खूबसूरत लड़के अदा करते थे। ये सभी परम्परायें गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन और आजादी की पुकार के साथ टूट गयीं। उस समय देश को इन सब की नहीं उसकी ही दरकार थी।

लखनऊ में नाटकों की एक ऐतिहासिक परम्परा रही है जिसे पुराने लखनऊ की "दिलाराम बारादरी" से लेकर ब्रिटिश पीरियड में बुलन्द बाग के क़रीब होने वाले थियेटरों तक जोड़ा जा सकता है। गोलागंज के रिफ़य आम क्लब के सामने एक खुले मैदान में अस्थायी प्रबन्ध में ही लगातार होने वाले नाटकों, नौटंकियों और पारसी थियटरों का सिलसिला लखनऊ में नाटकों के प्रति जनता के लगाव को प्रदान कराता रहा है।

मजे की बात तो ये है कि उस जमाने में अच्छे भले घर की औरते नौटंकी में नक्कारा (नगाड़ा) बजाने वाले माहिरों के साथ भाग जाने को तैयार हो जाती थीं या फिर जब पारसी थियेटरों के खेमें लगते थे तो लोग बाग, लोटा, थाली, बेच–बेच के तमाशे देखने जाते थे। गरज़ ये कि सरकार को आख़िरकार ऐसे प्रोग्रामों पर रोक लगानी पड़ती थी। लखनऊ में उमराव की पार्टी और रामनाथ मंडली

की नौटंकी का बड़ा नाम रहा है। उन्नीसवीं सदी में सेठ पेस्टन जी करीमजी की ओरिजनल थियेट्रिकल कम्पनी का बोल बाला था इसमें पारसी कलाकारों का भारी जमघट था। कालान्तर में इसी कम्पनी के आर्टिस्टों ने "बिक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी" और "ऐलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी" की अलग स्थापना की। सैयद मेहदी हसन 'अहसन लखनवी' ने इस जौहर के लिए अपने कलम का दिखाया। उनके लिखे हुए नाटक "चन्द्रावली' ने बहुत प्रसिद्धि पायी और सारे देश में तहलका मचा दिया। इसी नाटक की नकल पर आगा हश्र कशमीरी ने सन् 1897 में अपना पहला नाटक "आफ़ताबे मुहब्बत" लिखा। इन नाटकों में मसनवी शैली का इस्तेमाल किया जाता था और प्रायः संवाद छन्दों, शेरों या फिर तुकान्तवार्ता में लिखे जाते थे। आगा हश्र के लिखे नाटक बोल चाल की सहज भाषा और चुटीले संवादों के कारण आम जनता द्वारा बहुत पसन्द किये जाते थे। आँख का नशा, खूबसूरत बला, बिल्व मंगल, नेक परवीन, रूस्तम–सोहराब, सीता बनवास और यहूदी की लड़की उनके सुप्रसिद्ध नाट्क है। उनकी लेखन शैली के लिए चन्द नमूने प्रस्तुत है :–

अर्ज़ वो अर्ज़ कि जिसमें कोई इसरार न हो
बात वो बात कि जिस बात से इनकार न हो

x x x x

गिलासों में जो डूबे, फिर न उभरे जिन्दगानी में
हजारों बह गये, इन बोतलों के बन्द पानी में

प्रथम विश्व युद्ध ने सामाजिक जीवन को नया मोड़ दिया लोग ख़याली किस्सों को छोड़कर सामाजिक, राजनैतिक और राष्ट्रवादी नाटकों की प्रस्तुति पर ध्यान देने लगे। हुसैनी मियां और जरीफ लखनवी के बाद आगा हश्र कश्मीरी के उर्दू नाटक भी इसी धारा में शामिल हो गये और इसके साथ ही धीरे–धीरे पारसी शैली के नाटकों की नाव डूबने लगी।

थियेटरों को सिनेमा की ओर मोड़ देने का पहला कदम मेडेन थियेट्रिकल कम्पनी ने उठाया जब सन् 1922 में इस कम्पनी ने अपनी फिल्म का निर्माण प्रारम्भ किया। लखनऊ ने नये तकाजों नाटक के नए स्वरूपों और एब्स्ट्रेक्ट शैलियों के बावजूद परम्परागत नाटकों और नौटंकी को अच्छा संरक्षण दिया है और जिसके लिए तमाम नाट्य संस्थाये बराबर प्रयासरत हैं।

नौटंकी नाटक आज भी जनमानस को उतने ही लुभावने लगते है जितने दो पीढ़ी पूर्व लगते थे। आज भी लखनऊ के माहौल में पुरानी परिपाटी के थियेटरों की क़द्र बाकी है और फिर भी नये सिरे से लोक नाट्य परम्पराओं को प्रतिष्ठित करने का बाकायदा कोशिश की जा रही है लखनऊ के पुराने रंगकर्मियों में स्व. राधे बिहारी लाल, स्व. लल्न भइया, स्व. प्रमोद बाला एवं स्व. शाहीन सुल्ताना अविस्मरणीय हैं। आज नगर में सुविख्यात संस्था दर्पण, मंचकृति, मेघदूत, संकेत, यायावर आदि 35 नाट्य संस्थाए प्रगति पर हैं जिनके साथ रंगकर्मी पुरोधा पद्मश्री डॉ. राज बिसारिया, श्री विश्वनाथ मिश्र, श्रीमती कृष्णा मिश्रा, श्री के.बी. चन्द्रा, डॉ. उर्मिल कुमार थपलियाल, डॉ. अनिल रस्तोगी, सन्तराम, आतमजीत सिंह, हल्लो भइया, पी.डी. वर्मा, विजय वास्तव, स्वदेशबन्धु, विमल बनर्जी, विजय बनर्जी, कुमकुमधर, वीनू कलसी, मुकेश कपूर, भानमती, नीरजा गुप्ता, माया गोविंद, विजय नरेश, संध्या रस्तोगी, सूर्य मोहन कुलश्रेष्ठ, प्रमिला भारद्वाज, विलायत जाफ़री साहब, सुशील कुमार सिंह, जुगल किशोर, मंजु गुप्ता, अमित दीक्षित, आदि नाम जुड़े हैं।

❑❑

लखनऊ के तमाशाघर

लखनऊ वालों की तमाशबीनी मशहूर है। उनकी बातचीत का अलग ही अन्दाज़ है। यहां मदारियों के खेल से लेकर नाटक थियेटरों तक को तमाशा कहकर पुकारा गया है तो शुरू-शुरू में फिल्मों को भी चाहे मूवी हो या टाकी, तमाशा ही कहा जाता था।

दुनिया का पहला सिनेमाघर सन् 1895 में जार्जिया के अटलांटा शो के लिये बनवाया गया था। लखनऊ का रायल सिनेमा (वर्तमान मेहरा टाकीज) हमारे यू.पी. का पहला सिनेमा हाल था जो 20 वीं सदी के दूसरे दशक में बनवाया गया था। उस समय यूपी का अर्थ उत्तर प्रदेश न होकर यूनाईटेड प्राविन्सेज आगरा एण्ड अवध था। इस पिक्चर पैलेस के अस्तित्व की भी बड़ी दिलचस्प कहानी है।

लखनऊ में सबसे पहले चौपटियों वाली दिलाराम की बारादरी ही जनता का रंगमंच रही है। बाद में जब आगा हश्र काश्मीरी का दौर आया तो गोलागंज बुलंदबाग में बब्बे साहब ने रिफह आम क्लब के सामने मेडन थियेटर बनवाया। उसमें हिन्दुस्तानी ड्रामे और थियेटर होते थे। अंग्रेजों ने पहले से ही अपने दिलबहलाव के लिये कोठी हयातबख्श और बेगम कोठी के बीच हजरतगंज के एक सिरे पर रिंग थियेटर (गोल नाचघर) बनवा रखा था। इस बालरुम डांस के साथ ही यहां थियेटर भी होते थे और फिर पर्दे की व्यवस्था करके साइलेन्ट इंगलिश 'फिल्मों के शो होने लगे थे। इस रिंग थियेटर में डांसिंग फ्लोर बीच में था और चारों ओर दर्शकदीर्घा थी। इस थियेटर में हिन्दुस्तानियों का प्रवेश वर्जित था। सिर्फ लाबी में ख़िदमतगार की सूरत मेमों के बच्चों को लेकर हिन्दुस्तानी नौकर खड़े रहते थे। बाहर लिखा रहता था डाग्स एण्ड इण्डियन्स आर नॉट एलाउड।

इस बात ने हजरतगंज के मुकाबले अमीनाबाद में एक सिनेमाघर की ज़रूरत को जन्म दिया जो कि जनमानस के काम आ सके। इस सिलसिले में पहल की उतरौला के नवाब संजू साहब ने, जिन्होंने एक जर्मन लेडी के सहयोग से सन् 1911 में किला फाटक से कुछ दूर गुईनरोड पर एक सिनेमाघर बनवाया। यहां पहले नवाब साहिब का अस्तबल गोदाम था। इसके निर्माण में लाला धनपतराय सेठ और राधा कृष्ण अरोरा का सहयोग भी था।

इस सिनेमाघर का नाम पर्ल थियेटर था। इसमें थियेटर भी होते थे और अंग्रेजी साइलेन्ट मूवी चलती थी। कुछ दिन इसका नाम कोहिनूर भी रहा। सन् 1918 से यह रायल सिनेमा हाल कहलाया और इसमें हिन्दी की चुप फिल्में आने लगीं। "अमर ज्योति" इस सिनेमाहाल की पहली फिल्म थी। उस ज़माने में मूक फिल्म "अनारकली" ने लखनऊ में बहुत शोहरत हासिल की। इसमें डी बिल्मोरिया, ई बिल्मोरिया के साथ सुलोचना हीरोईन थी। सुलोचना एंग्लोइण्डियन थीं और उनका असली नाम रुबी मायर्स था। ये फिल्म अनारकली इतिहास के बहुत करीब थी। इस फिल्म में अनारकली को इसलिये चुनवाते दिखाया गया था कि उसने सलीम का लिखा हुआ प्रेम पत्र अकबर के अहलकारों को नहीं दिया था और उसमें क्या लिखा था यह बताने से भी इन्कार कर दिया था। गिरफ़्तार हो जाने पर उसने ख़त को खा लिया था ताकि शहज़ादे का प्यार रुसवा न हो जाये। सुलोचना के लिए इत्तफाक की बात यह भी थी कि फिल्मिस्तान की बेहद मशहूर फिल्म "अनारकली" में उन्होंने जोधाबाई की भूमिका निबाही थी और उनके साथ अकबर का रोल मुबारक ने अदा किया था।

खामोश फिल्मों का भी अपना दौर था और उसका जुनून आज भी अंग्रेजी फिल्मकारों में बहुत बाकी है। हिन्दी फिल्मों में "पुष्पक" अभी उसका एक ताज़ातरीन नमूना है। हिन्दी मूक फिल्मों में

सुलोचना और बिल्मोरिया की सुपर–हिट जोड़ी की फिल्में हीर–रांझा, मेवाड़ का मोती आदि भी रायल थियेटर में लगीं। इसके बाद आई बिट्ठल और जेबुन्निसा की फिल्में "सोहनी–महीवाल" तथा "सस्सी पुन्नो"' ये दोनों प्रसिद्ध दुखान्त प्रेम कहानियां थीं।

ये उस जमाने की बातें हैं जब नौशाद साहब रायल सिनेमा के सामने वाले मुहल्ले 'लाल खां के अहाते' में रहते थे और एक रुपया रोज़ पर रायल सिनेमा में शो के बीच में प्रस्तुत गानों के साथ हरमोनियम बजाया करते थे। सन् 1931 में हिन्दुस्तानी सिनेमा में संक्रान्ति हुई और सिनेमा मूक से सवाक् हो गया। इसी साल पहली बोलती फिल्म "आलमआरा" बनी, जिसमें जुबैदा नायिका थी। इस फिल्म की निर्माता फातिमा थीं जो जुबैदा की मां थीं। ये फिल्म रायल सिनेमा हाल में ही रिलीज हुई थी और इसी के साथ रायल थियेटर रायल टाकीज के नाम से जाना जाने लगा था। आलमआरा जब छठे दशक में फिर से बनाई गई तो उसमें लखनऊ महिला कालेज की छात्रा "आशा टिक्कू" ने काम किया था।

आलमआरा के बाद रायल में "जलती निशानी" का ज़ोर रहा जिसका अंग्रेजी नाम "ब्रैंडेंड ओथ" था और जिसमें ख़लील हीरो थे। प्रभात पिक्चर्स की सुप्रसिद्ध फिल्म "किंग आफ़ अयोध्या" ने रायल टाकीज की टिकट खिड़कियां तोड़ दी थीं। राजा हरिश्चन्द्र पर बनाई गई इस फिल्म ने यहां तहलका मचा दिया था। व्ही शांताराम द्वारा शांता आप्टे को लेकर प्रभात के बैनर से "सैरेन्ध्री" बनाई गई थी जिसको बर्लिन भेजकर रंगीन किया गया था। इस फिल्म का भी अपना अलग रंग रहा उस समय रायल टाकीज से निकलने वालों की जुबान पर द्रोपदी की पुकार वाला ये गीत होता था।

आइये बल निर्बलों के,

दीन के धन आइये

शांताराम की "माया मछेन्द्र" (दी एल्यूजन) भी रायल में ही

लगी जिसमें दुर्गाबाई खोटे नायिका थीं। इसी सिलसिले में कुन्दनलाल सहगल का समय आया। बोराल साहब उन्हें 'चण्डी दास' में उमा–शशि के साथ लाये थे जिसमें पहाड़ी सान्याल भी थे ओर जो कि लखनऊ मैरिस म्यूजिक के सन् 1913 वाले बैच के ग्रेज्युएट थे। बरुआ की "देवदास" (सहगल–जमुना) और प्रसिद्ध फिल्म "परवाना" (सहगल–सुरैया) भी रायल टाकीज की ज़ीनत बनीं और फिर बुलबुले हिन्द सुरैया और मलका–ए–तरन्नुम नूरजहां की आवाजें इस थियेटर में गूंजने लगीं। रायल सिनेमा के मालिक अमृतसर के राधाकृष्ण धनपतराय जी थे। उनके बेटे बनवारीलाल और पुरुषोत्तम दास ने जयहिन्द टाकीज़ बनवाया था इनको दोनों को अमृतसर की दो सगी बहनें व्याही थीं।

लखनऊ सिनेमा संसार के इतिहास का सबसे कीमती गवाह रायल टाकीज है जिसने नई ऋतु के साथ अपना रुतबा खो दिया। सन् 1965 में यह सिनेमा हाल "मेहरा" टाकीज में बदल गया और इसको लोग अब नज़र अन्दाज करके गुजर जाते हैं।

कैसरबाग की महलसरा के करीब जब अंग्रेजों ने कैसरबाग सर्कस बनवाया तो पांच इमारतों के एक दायरे में चौक बनवाया जिसमें छः सड़कें प्रवेश करती हैं। इस गोल चौक के बीच फव्वारा रखा गया। इन सारी इमारतों में इण्डोसिरेसैनिक वास्तुकला तथा गाथिक शैली का खूबसूरत इस्तेमाल किया गया ताकि कैसरबाग की शान को ठेस न लगे क्योंकि कैसरबाग लखनऊ का दिल है। उन पांच इमारतों में कैन्ट रोड और लाटूश रोड के बीच वाले भवन में अल्फ्रेड़ फिल्म और माडर्न थियेटर कलकत्ता वालों ने सन् 1923 में अलफिंस्टन सिनेमाघर बनवाया। शुरू–शुरू में यहां मूक फिल्में चलती थीं। अलफिंस्टन सिनेमा में जनवरी सन् 1934 में लंदन में बनाई गई फिल्म "सांग आफ दी सरपेंट" आई जिसके प्रदर्शन के लिए बम्बई से देविका रानी और हिमांशु राय भी तशरीफ लाये थे। हिमांशु राय लखनऊ क्रिश्चियन कालेज के तत्कालीन वाईस प्रिंसिपल

के दोस्त थे। इसलिए ये दोनों क्रिश्चियन कालेज में भी आये थे। अलफ़िंन्सटन संस्था के उस समय भारत में सौ सिनेमा हाल थे।

अलफिस्टन में अंग्रेजी की प्रारम्भिक प्रसिद्ध फिल्मों में "रुडाल्ट वैलेन्टिना" की "बेनहर" खूब चली थी फिर डगलस फेयर बैक्स और उसकी बीवी मैरी पिक फील्ड की प्रमुख भूमिका वाली फिल्में, "मास्की टियर्स" (तीन तिलंगे) और "मैन इन द आइरन मास्क" (फौलादी चेहरा) आयीं थी। ये दोनों फिल्मे अलेक्जैंडर ड्यूमाज की प्रसिद्ध नाविलों पर आधारित थीं । विजय भट्ट की सर्वश्रेष्ठ धार्मिक फिल्म "राम राज्य" (शोभना समर्थ, प्रेम, अदीब) और सोहराब मोदी की 'पुकार', (नसीम बानो, चंद्रमोहन) जैसी भारतीय रजतपट की आभूषण फिल्में अलफिंस्टन में ही चलीं। अलफिस्टन में लीला देसाई की डांस पार्टी कैबनेट लेकर आयी थीं और ये लोग कैसरबाग चौराहे के एम्पायर होटल में टिके थे जहां बाद में नटवरलाल ठहरता था। सन् 1967 में कैसरबाग ऐक्ट के बावजूद अलफिंस्टन सिनेमा की खूबसूरत पुरानी रुपरेखा को तोड़ ड़ाला गया और सादी तिरछी दीवार लेकर आनन्द सिनेमा का उदय हुआ। उस समय इसमें नूतन और सुनीलदत्त की रंगीन फिल्म "मेहरबान" लगाई गई और तब इसके अधिकारी आनन्द खण्डेलवाल जी थे, जो जनता में आनन्दी बाबू के नाम से जाने जाते थे।

सन् 1933 में अमीनाबाद के झंडेवाले पार्क के सामने सेंट्रल होटल गंगा प्रसाद मेमोरियल हाल के बीच यूनिवर्सल टाकीज बनवाया गया जिसमें पहली फिल्म "गाज़ी मुस्तफा कमाल पाशा" लगी थी। बाद में इसका नाम "ओरियन्टल" और "सुन्दर" भी रहा है फिर जगत्नारायण डिस्ट्रीव्यूटर्स की सम्पत्ति होने पर इसका नाम "जगत टाकीज" हो गया। जगत सिनेमा में नौशाद के संगीत से सजी सुप्रसिद्ध फिल्म "रतन" (स्वर्णलता, करन दीवान) रिलीज हुई जिसने तहलका मचा दिया। नूरजहां की फिल्में मिर्ज़ा साहिबा, भाईजान, और ज़ीनत वगैरा भी जगत टाकीज की ज़ीनत बनीं।

जगत सिनेमा में उस समय एक आना और दो आना के टिकट पर फिल्में चलती थीं। जगत में फिल्मों के बीच "ज़िंदा नाच" का इश्तहार अक्सर होता था। नयनतारा की डांसिंग पार्टी फिल्म के बीच अपने डांसेंज की दो इन्ट्री देती थी। पृथ्वीराज कपूर की मशहूर थियेटरिकल कम्पनी पृथ्वीराज थियेटर्स के नाटक लखनऊ में पहले पहल जगत के आडीटोरियम में ही खेले गये थे। जगत में देवर, दादा (बेगम पारा–शेख मुख्तार), शोले (बीनाराय, अशोक कुमार), शंहशाह (कामिनी कौशल, रंजन) आदि प्रसिद्धि फिल्में चली हैं। 'शोले' मशहूर अंग्रेजी नावेल "आफ्टर द सेवेन्थ हैवेन" पर आधारित लखनऊ शहर की कहानी थी और 'शहंशाह' पहली गेवा, कलर फिल्म थी। उस जमाने में गाने नाच पर बेतहाशा पैसे पर्दे पर फेके जाते थे। यह रिवाज सबसे पहले फिल्म 'दर्द' के गाने "अफ़साना लिख रही हूं दिले बेक़रार का" से शुरू हुआ था। उमादेवी (टुनटुन) का गाया हुआ ये गीत परदे पर मुनव्वर सुल्ताना पर फिल्माया गया थां लोगों में भ्रम था कि तांबे का सिक्का पर्दे को छू लेगा तो पर्दा जल जायेगा लेकिन ऐसा कुछ नहीं था ये सिर्फ कही कहावत है। बाद में जब आगे का टिकट चार आने हो गया तो ये रेज़गारी लुटाने वाला क्लास चवन्नी क्लास के नाम से मशहूर हो गया। दरअसल टिकट का रेट साढ़े चार आने था क्योंकि अधन्ने (दो पैसे) का उस पर इन्टरटेन्मेंट टेक्स लगता था। लखनऊ में कुक्कू के डांस पर जिन सिनेमा हालों में सबसे ज्यादा पैसे लुटाये गये हैं उनके नाम हैं रायल, अलफिंस्टन ओर जगत। इस परम्परा में सुरैया और शमशाद बेगम के गानों पर भी सिक्के बरसते रहे। ये प्रथा 20 साल बाद फिल्म "मुगले आज़म" तक रही जब मधुबाला के दिलकश नृत्य पर भी बहुत सिक्के लुटाए गए थे। उसी दौर में अवध रुहेलखण्ड रेलवे (ओ. आर.आर.) की जगह ईस्ट इण्डिया रेलवे (ई.आई.आर.) ने लेली। चारबाग स्टेशन के उस पार ई.आई.आर. इन्स्टीट्यूट में पर्दा लगाकर फिल्में दिखाई जाती थीं। नवम्बर सन् 1939 में यूनाईटेड पिक्चर कार्पोरेशन की स्थापना हुई थी। इस फिल्म कम्पनी का स्टूडियो और

कार्यालय हजरतगंज से आगे बटलर पैलेस के करीब था इस फिल्म कम्पनी के मालिक कृष्ण गोपाल कैमरामैन थे, जो लखनऊ विश्वविद्यालय के साइंस ग्रेजुएट थे। फिल्म कम्पनी के उद्घाटन के लिये नवाब साहब रामपुर राज़ अली खाँ सुपुत्र कल्बे अली खाँ अपने भाई को लेकर लखनऊ आये थे। इस कम्पनी द्वारा डायरेक्टर देवकी बोस को लेकर जो पहली फिल्म बनाई गई वो चुप थी और उसका नाम था "शैडोज आफ द डैथ" उर्फ़ "यादें रफ्तगां" इसमें कच्चा हाता (मोलवीगंज) लखनऊ के प्रसिद्ध कलाकार मिज्जन ओर मिस गुलनार ने काम किया था। मिज्जन बाद में अपनी फिल्म 'पूरन भगत' से बहुत मशहूर हो गये। इनका असली नाम अलीमीर था, इसलिये उन्होंने अपना नाम ए.एम. कुमार रख लिया। मुगले आज़म में कुमार ने ही संगतराश की भूमिका अदा की है। ई.आई.आर. इन्स्टीट्यूट लखनऊ के सिनेमा घर का उद्घाटन मैट्रो गोल्डविन मेयर्स (एम.जी. एम.) हालीवुड की मशहूर कम्पनी की फिल्म "माताहारी" से हुआ था। माताहारी विश्व की सुप्रसिद्ध जासूस हुई है जिसने प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन के लिये जासूसी की थी। माताहारी डच थी लेकिन इण्डोनेशिया में शादी करके रह रही थी। माताहारी की बेटी हिल्डा ने भी द्वितीय विश्वयुद्ध में यही धंधा किया था और ये दो की दोनों फांसी पर चढ़ा दी गई थीं। 1947 के बंटवारे के बाद यूनाईटेड पिक्चर्स कापोरेशन की जगह आईडियल फिल्म कम्पनी ने ली जिसे हुसैनगंज के निकट कैलाश स्टूडियो में स्थापित किया गया था।

लखनऊ में कैन्ट एरिया में थडानी साहब के घर में ही बेजली सिनेमा था। जो सदर क्षेत्र के निवासियों के हित में पिक्चरों का प्रदर्शन करता था। बेजली बहुत जल्दी बंद हो गया। अब पोलोग्राउण्ड पर सूर्या रंगभवन बन गया है। जिसमें सांस्कृतिक कार्यक्रम तो होते ही हैं सेनाधिकारियों के पारिवारिक सन्दर्भ में कभी–कभी फिल्में भी दिखाई जाती हैं। इसके अलावा कमाण्ड एरिया का अपना ओपेश एयर थियेटर भी है जहां फिल्मों का प्रदर्शन होता ही है।

सन् 1905 में प्रिंस आफ वेल्स, मेरी प्रिंस आफ वेल्स को

लेकर लखनऊ आये थे, उन्होंने उस साल क्रिसमस लखनऊ में ही मनाया था। उनके ही स्वागत में यहां प्रिंस आफ़ वेल्स म्यूज़ियम ज़ू बनवाया गया था जिसका उद्घाटन भी उन्होंने किया। उनके आगमन की यादगार में लखनऊ में प्रिंस थियेटर भी बनवाया गया जो कि हजरतगंज के बीच बना था। प्रिंस थियेटर में दोनों और दीवारों पर खूबसूरत डिजाइनों के साथ दौड़ते हिरनों के सुन्दर चित्र बने थे। प्रिंस आफ वेल्स लखनऊ में रेस कोर्स में रेस खेलने भी गये थे वहां वो राजा श्री पाल सिंह के घोड़े 'रेनबो' पर रेस जीते थे। प्रिंस थियेटर बहुत दिनों तक थियेटरों के लिये ही इस्तेमाल होता रहा। इसके साथ बार और बिलियर्ड तो था ही, एक खूबसूरत नाचघर भी था जिसका डांसिंग फ्लोर मशहूर था। अभी कुछ दिनों पहले तक प्रिंस के साथ लगे हुये कृष्णा रेस्तरां में लकड़ी का वो फर्श मौजूद था जिसके साथ पर्देदार केबिन बने हुये थे। प्रिंस में जोड़ों के बैठने के लिये बाक्स भी बने हुये थे और इस बात का अनुसरण बाद में और भी सिनेमा हालों में हुआ परन्तु बालकनी के प्रभाव में आ जाने से और पर्दा प्रथा ख़त्म हो जाने के बाद बाक्स का चलन क़रीब क़रीब खत्म हो गया। प्रिंस में ही कामिनी कौशल की मशहूर फिल्में 'नीचा नगर' और ''नमूना'' आई थीं। कामिनी कौशल और दिलीप कुमार की प्रसिद्ध रोमांटिक जोड़ी की फिल्में ''शहीद'', ''शबनम'', ''नदिया के पार'' और ''आरजू'' भी यहीं प्रदर्शित की गई। ''आरजू'' वह फिल्म थी जो कामिनी कौशल के पति द्वारा दिलीप कुमार के साथ उनके काम करने पर पाबंदी लगा देने की वजह से इन लोगों की अन्तिम फिल्म थी। प्रिंस सिनेमा कुछ वर्ष पहले तोड़ दिया गया और उसकी जगह प्रिंस मार्केट बन गई। वही शांताराम की फिल्म ''जल बिन मछली नृत्य बिन बिजली'' इस हाल की आखिरी फिल्म थी।

सन् 1934 में हजरतगंज के बीच प्रिंस के लिये रास्ता छोड़कर उसके छत्ते पर एक और इंग्लिश पिक्चर पैलेस बनवाया गया जिसका नाम ''प्लाज़ा'' था। इसे महाराजा टेहरी गढ़वाल ने बनवाया था इसमें पहली फिल्म ''साइन आफ दी क्रॉस'' लगाई गई थी।

लखनऊ में प्लाजा और मिनर्वा दोनों ही सोहराब मोदी की मिल्कियत थे। मिनर्वा मूवीटोन सोहराब मोदी की फिल्म कम्पनी का नाम था। वो जब कभी लखनऊ आते थे अपनी बीवी महताब को लेकर रेस कोर्स जरूर जाते थे। मिनर्वा की पहली फिल्म ''दिल'' थी। इस नजरबाग वाले सिनेमाघर का नाम छठे दशक में ओडियन हो गया और अब ये भी बंद हो चुका है।

प्लाज़ा जल्दी ही सोहराब मोदी के हाथ से निकल गया। लखनऊ का एक यही सिनेमा हाथ था जिसमें पुराने समय से लिफ्ट लगी हुई थी, जो आखिर में जाकर बालकनी में खुलती है। प्लाजा के नए मालिक ने उसको नया नाम रीगल दिया। रीगल में भी पहले अंग्रेजी फिल्में ही लगती थीं। हिंदी फिल्मों के दौर में यहां फिल्मिस्तान कम्पनी की फिल्में खूब धड़ल्ले से चलती थीं, उनमें 'अनारकली' ने तो गजब़ ही ढा दिया था। अनारकली में सी. रामचन्द्र का जादूभरा संगीत ओर बीनाराय की अदाकारी थी। सन् 1950 में फिल्मिस्तान कम्पनी ने इस सिनेमा हाल को खरीद लिया और इसको नये सिरे से सजा दिया। सन् 1954 में जब फिल्मिस्तान टाकीज़ में हेमन्त कुमार के सुन्दर संगीत से सजी वैजन्तीमाला, प्रदीप कुमार की ''नागिन'' प्रदर्शित की गई तो इसकी शोभा देखने योग्य थी। इस सिनेमा हाल में खूबसूरत शेड्स में डिफ्यूज्ड लाइट्स के बन्दोबसत किये गये थे। बहुत बड़े आकार का गहरा उन्नावीं मखमल का पर्दा रहता था, जो प्रकाश पुंज के स्पर्श से धीरे धीरे खुलता था और तब तस्वीर अंगूरी रंग के रेशमी झीने पर्दे पर उतरती थी। जिसके असर से आहिस्ता–आहिस्ता वो पर्दा भी खुलना शुरू होता था उसके बाद रजतपट पर फिल्म आती थी। फिल्मिस्तान में ही बीनाराय, प्रदीप कुमार और नलिनी जयंवत की गेवा कलर फिल्म ''दुर्गेश नन्दिनी'' बड़ी धूमधाम से चली थी। फिल्मिस्तान का स्टेज जन्माष्टमी की रात अपने सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए प्रसिद्ध था। शहर के नामी गिरामी लोग बड़े धूमधाम से यहां जन्माष्टमी मनाने आते थे। सन् 1976 में पुल पर टंगे हुये इस सिनेमा हाल का नाम साहू टाकीज

हो गया और उस समय यहां पहली फिल्म ''अमर दीप'' (नई) रिलीज़ की गई।

अंग्रेजी दौर में ही पुराने लखनऊ में नक्खास चौराहे के करीब लीगल नाम से एक थियेटर बनवाया गया था जिसमें चौक की पार्टियां अपना प्रोग्राम करती थीं, यहां के दर्शक भी अधिकतर पुराने लखनऊ के होते थे। लीगल में होने वाले सैय्यद तक़ी के ड्रामें मशहूर हुआ करते थे। बाद में और दूसरे थियेटरों की तरह लीगल में भी फिल्में लगने लगीं। नौशाद साहब भी अपने दोस्तों के साथ घसियारी मण्डी, बाग मुन्नू से नक्खास तक लीगल में फिल्म देखने आया करते थे। लीगल टाकीज सन् 1948 में प्रभात सिनेमा बन गया और अब वही प्रकाश पिक्चर पैलेस के नाम से जाना जाता है। प्रकाश में पहली फिल्म मीनाकुमारी की ''चांदनी चौक'' लगी थी। चौक में अकबरी दरवाज़े और गोल दरवाजे के बीच हिरन पार्क से लगा हुआ स्टार सिनेमा ब्रिटिश शासनकाल में दशहरे के दिन सन् 1926 में बनवाया गया था। ये टाकीज कुछ ही दिन चला। 'सुरेखा हरण' यहां धूमधाम से चली थी। इसके बाद चौक में रहने वाली तवायफों ने अपनी कोशिशों से ये सिनेमाघर बंद करवा दिया क्योंकि शाम से रात तक ठंडी सड़क का वातावरण कुछ दूसरा होता था जहां रईसज़ादे और संगीत प्रेमी गाना, सुनने आया करते थे और सिनेमाघर का होना उनके कारोबार में ख़लल पहुंचाता था। ये भी कहा जाता है कि एक कमसिन नाचनेवाली को हाल में, सांप ने डस लिया था जो स्टार में फ़िल्म 'बम्बई की बिल्ली' देखने गयी थी और तब ही इसे बंद किया गया। स्टार सिनेमा के बंद होने के बाद चौक कोतवाली के करीब गया प्रसाद शंभूनाथ सर्राफ़ की फर्म ने ''रोज़ टाकीज'' बनवाया। 'रोज़' में पुरानी हातिमताई लगी थी ये पूरी फिल्म तीन दिन में ख़त्म होती थी। 18 घंटे की यह फिल्म छः शो तक चलती थी और इस तरह से अपने ढंग की अनोखी फिल्म थी। ''रोज़'' बाद में लक्ष्मी टाकीज बन गया और अब फिर ''अशोक'' सिनेमा के नाम से जाना जाता था। अब उस का कारख़ाना भी खत्म है।

उस समय केवल दो शो रोज़ होते थे इसलिये शाम का शो फर्स्ट शो कहलाता था और रात का शो सेकेण्ड शो या नाइट शो कहलाता था। वहीं आज भी कहे जाते हैं। अंग्रेजी हुकूमत के दौर में शनिवार को हाफ़ डे और रविवार की पूरी छुट्टी होने के कारण इन दोनों दिनों में तीसरे पहर एक मैटिनी शो भी होता था। आज़ादी के बाद रोज़ाना तीन शो होने लगे और उस तरह मैटिनी शो नियमित हो गया। फिर आबादी बहुत बढ़ जाने पर बारह बजे वाला नून शो भी जोड़ दिया गया। आजकल मार्निंग शो़ हो जाने से एक सिनेमा हाल में प्रतिदिन पांच शो भी होने लगे हैं। किसी नई फिल्म के आने पर उसके रिलीज से एक दिन पहले आधी रात के बाद उसका "ट्रायल शो" भी होता है जिसमें मैनेजमेंट और स्टाफ के लोग उस फिल्म को पूरी तरह देख लेते हैं। शिवरात्रि की रात एक टिकट में दो खेल दिखाने की परम्परा भी बहुत पुरानी है जिसमें पहले तो केवल धार्मिक चलचित्र ही दिखाये जाते थे। बाद में दूसरी फिल्में भी चलने लगीं और इस तरह सुबह तक सात शो का सिलसिला भी चलता था। आज़ादी के पहले घसियारी मण्डी चौराहे पर 'रतन' टाकीज बनवाया गया जहां पहली फिल्म "नतीजा" चली थी। जिसमें रेहाना, याकूब और शमीम ने काम किया था बाद में कुछ दिन इसका नाम सुन्दर भी रहा फिर लिबर्टी हो गया और अब शुभम है। इसके करीब ही एक और पिक्चर पैलेस बनकर तैयार हो गया था लेकिन इजाजत न मिलने पर उसमें एक टायर कम्पनी कायम हो गई थी, जो आज भी है। उसके ही बगल में बाद में शिल्पी सिनेमा बनकर तैयार हो गया जिसमें पहली फिल्म रामदयाल की "प्रभात" लगी थी और अब वहीं टाकीज़ स्वरूप पैलेस है।

लखनऊ में आज़ादी के पहले के सिनेमा घरों में मेजर बैंक रोड का निशात टाकीज भी बहुत पुराना था। चौलक्खी इलाके में भिश्ती के रौजे के आगे बने हुये इस निशात टाकीज की पहली फिल्म पंचोली आर्ट्स की "मुक्ति" फिल्म थी। निशात में अशोक कुमार और

मुमताज शांति की बाम्बे टाकीज की फिल्म "किस्मत–– ने यहाँ गोल्ड़ेन जुबली की थी। चौक लखनऊ से गई लखनऊ की ही एक अदाकारा रेहाना की बाक्स आफ़िस हिट फिल्में "खिड़की", "सरगम", "सगाई" और "ऐक्ट्रेस" फिल्में निशात में ही लगीं थीं। मधुबाला की मशहूर फिल्मों में आराम, नाज़नीन, नाता, तीरंदाज, बादल, रेल का डिब्बा और ढाके की मलमल, निशात में ही जोरशोर से चली थीं। निशात पचास साल बाद भी निशात ही था, लेकिन सिनेमा का स्तर गिरने के साथ–साथ सिनेमा घर टूटने लगे और निशात भी बन्द हो गया।

पुराने ज़माने में सभी सिनेमाघरों के बड़े क्लासों में अलग से ज़नाना दर्जा होता था जिसके सामने और बगल में दोनों तरफ से पर्दा पड़ा रहता था। सामने का पर्दा फिल्म शुरू होने पर उठ जाता था और इन्टरवल में उसे फिर गिरा दिया जाता था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले ही जब चारबाग और पानदरीबा के बीच की इमारतें बनीं और नया बाजार तैयार हुआ तो चारबाग स्टेशन के निकट सुदर्शन सिनेमा हाल बनवाया गया। ये सिनेमाघर बहुत दिनों तक फिल्मिस्तान के साथ संलग्न रहा है। रेलवे स्टेशन के बहुत निकट होने के कारण आते जाते मुसाफिरों के लिये सुदर्शन पिक्चर पैलेस बड़ा उपयोगी रहा है।

सन् १९३७ में बादशाह पार्क के सामने कैपिटल सिनेमा बना तो १९३९ में हजरतगंज के पहले चौराहे पर कैथेट्रेल चर्च के सामने मेफेयर सिनेमा बनवाया गया, इन दोनों में शुरू–शुरू में अंग्रेजी फिल्में चलती थीं। कैपिटल सिनेमा में के. आसिफ की "मुग़ले आज़म (मधुबाला–दिलीप) पूरे एक साल चली थी। यहां तक कि सामने के पोस्टर भी रंग उतर जाने के कारण दुबारा बनवाने पड़े थे और ऐसी शोहरत फिर किसी को नहीं मिली। मेफेयर में जो पहली फिल्म लगी थी वो थी लारेल और हार्डी की "नथिगं बट ट्रबुल" थी। मेफ़ेयर शुरू से ही अपनी शालीनता के लिये मशहूर रहा है और ये शांत प्रकृति

और संभ्रातं लोगों की पहली पसंद था। 'टैन कमाण्डमेंट्स'', बेनहर, किलोपेट्रा, क्वेवेडिस, सालोमन एण्ड शीबा और विश्व की प्रथम थ्री डी फिल्म, 'हाउस आफ दि वैक्स', मेफेयर थियेटर में ही प्रर्दशित हुई हैं। इस सिनेमा हाल में पहली हिंदी फिल्म जो रिलीज हुई थी वो सोहराब मोदी और महताब कि फिल्म ''झांसी की रानी'' थी। इस ऐतिहासिक फिल्म को भारत की प्रथम टेक्नीकलर फिल्म होने का गौरव प्राप्त है। मेफ़ेयर के हाल में सांस्कृतिक कार्यक्रम भी कम नहीं हुये है। पृथ्वी थियेटर्स के प्रसिद्ध नाटक ''पठान'', ''गद्दार'', और ''आहुति'' बड़े जोरशोर के साथ इस हाल में प्रदर्शित होते थे। इन ड्रामों के शो के बाद पृथ्वी राज कपूर स्वयं मेफ़ेयर की लाबी में खड़े होते थे और दर्शकों से मिलते थे। थियेटर के हित में चंदा वसूलने के लिये वो हाथ में एक कपड़ा लिये रहते थे जिसमें लोग स्वेच्छा से रुपये पैसे डालते थे। उस समय वो अपनी आँखें बंद रखते थे ताकि अधिक रुपये डालने वालों के मुकाबले में कम पैसा डालने वाले की आँख नीची न हो।

उदयशंकर की नृत्य नाटिका कल्पना और बिरजू महाराज के कत्थक कथानक ''शामे अवध'', ''पार्वती मंगल'' आदि मेफेयर में ही प्रदर्शित किये गये हैं। इस टाकीज़ में चुनी हुई हिन्दी फिल्मों का प्रदर्शन बराबर हुआ है। उनमें मीनाकुमारी की चिर स्मरणीय फिल्म ''पाकीज़ा'' इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। मीना कुमारी की अन्य प्रसिद्ध फिल्में ''बादबान'', ''बन्धन'', ''बंदिश'', ''सवेरा'' और ''सहारा'' भी यहीं लगी थीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के वर्ष लखनऊ के लालबाग़ में दो सिनेमाघर और बने जिनमें से एक का नाम बसंत था और एक का नाम नावेल्टी है। बसंत में पहली फिल्म याकूब और सुलोचना की ''दूसरी शादी'' लगी थी जो अपने समय की सशक्त सामाजिक फिल्म थी। बसंत में निम्मी की मशहूर फिल्में– बरसात, आन, डंका, कुंदन, उड़न खटोला, पहली रात और मेरे महबूब लगी थीं। मधुबाला, अशोक कुमार की

मशहूर फिल्म "महल" इसी सिनेमाघर में रिलीज़ हुई थी। लखनऊ से जानेवाली प्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री बीनाराय का असली नाम कृष्णा सरीन था। उनके आई.टी. कालेज में छात्रा जीवन का एक छायाचित्र आज भी लालबाग में एक फोटोग्राफर के यहां लगा हुआ है। बीनाराय की फिल्में तलाश, औरत, शगूफा और गोलकुण्डा का कैदी, बसंत सिनेमा में ही रिलीज हुई थीं। गेवा कलर फिल्म 'गोलकुण्डा का कैदी' उनके पति प्रेमनाथ द्वारा बनाई गई थी और जिसके प्रीमियर शो में प्रेमनाथ स्वयं यहां आये थे। हिन्दी पिक्चर पैलेसों में बसंत पहला सिनेमा हाल था जिसमें मेफेयर की तरह अपने आप खुलने वाला रंगीन पर्दा लगाया गया था। बसंत के मालिक अमृतलाल साहनी जी थे, जिनकी प्लास्टिक सर्जरी से बनी हुई नाक मशहूर थी। बसंत सिनेमा के सामने मक़बरा मोहल्ले से जाने वाली रेबेका नाम की ईसाई लड़की बम्बई में माधवी के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसने देवानंद की "ज्वैल थीफ" में काम किया था और जो इत्तिफाक से बसंत में ही लगाई गई थी। अब बसंत सिनेमा शेष नहीं है।

लालबाग सर्कस पर बना हुआ नावेल्टी सिनेमा सन् १९४७ में शुरू हुआ और सन् १९४८ में पूरा हुआ इसे पृथ्वीराज भार्गव जी ने बनवाया था। यहां सबसे पहले नौशाद के सदाबहार गानों से सजी नूरजहां और सुरैया की मशहूर फिल्म "अनमोल घड़ी" लगाई गई थी। बाद में यहीं "जुगनू" भी रिलीज़ हुई। जुगनू में नूरजहां ने पहली बार और अन्तिम बार दिलीप कुमार के साथ काम किया था। और पहली बार और अन्तिम बार ही मोहम्मद रफी के साथ गीत गाये थे। इन दोनों की आवाज में सुप्रसिद्ध गीत "यहां बदला वफ़ा का बेवफाई के सिवा क्या है" फीरोज़ निजामी के संगीत से सजा "जुगनू" का ही गाना है।

नूरजहां बटवारे के बाद पाकिस्तान चली गई और उनके पति शौकत अली की बनाई फिल्म दुपट्टा पहले हिन्दुस्तान में और फिर पाकिस्तान में प्रदर्शित हुई। नूरजहां की ये फिल्म दुपट्टा भारत में

और संभ्रातं लोगों की पहली पसंद था। 'टैन कमाण्डमेंट्स'', बेनहर, किलोपेट्रा, क्वेवेडिस, सालोमन एण्ड शीबा और विश्व की प्रथम थ्री डी फिल्म, 'हाउस आफ दि वैक्स', मेफेयर थियेटर में ही प्रर्दशित हुई हैं। इस सिनेमा हाल में पहली हिंदी फिल्म जो रिलीज हुई थी वो सोहराब मोदी और महताब कि फिल्म ''झांसी की रानी'' थी। इस ऐतिहासिक फिल्म को भारत की प्रथम टेक्नीकलर फिल्म होने का गौरव प्राप्त है। मेफ़ेयर के हाल में सांस्कृतिक कार्यक्रम भी कम नहीं हुये है। पृथ्वी थियेटर्स के प्रसिद्ध नाटक ''पठान'', ''गद्दार'', और ''आहुति'' बड़े जोरशोर के साथ इस हाल में प्रदर्शित होते थे। इन ड्रामों के शो के बाद पृथ्वी राज कपूर स्वयं मेफ़ेयर की लाबी में खड़े होते थे और दर्शकों से मिलते थे। थियेटर के हित में चंदा वसूलने के लिये वो हाथ में एक कपड़ा लिये रहते थे जिसमें लोग स्वेच्छा से रुपये पैसे डालते थे। उस समय वो अपनी आँखें बंद रखते थे ताकि अधिक रुपये डालने वालों के मुकाबले में कम पैसा डालने वाले की आँख नीची न हो।

उदयशंकर की नृत्य नाटिका कल्पना और बिरजू महाराज के कत्थक कथानक ''शामे अवध'', ''पार्वती मंगल'' आदि मेफेयर में ही प्रदर्शित किये गये हैं। इस टाकीज़ में चुनी हुई हिन्दी फिल्मों का प्रदर्शन बराबर हुआ है। उनमें मीनाकुमारी की चिर स्मरणीय फिल्म ''पाकीज़ा'' इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। मीना कुमारी की अन्य प्रसिद्ध फिल्में ''बादबान'', ''बन्धन'', ''बंदिश'', ''सवेरा'' और ''सहारा'' भी यहीं लगी थीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के वर्ष लखनऊ के लालबाग़ में दो सिनेमाघर और बने जिनमें से एक का नाम बसंत था और एक का नाम नावेल्टी है। बसंत में पहली फिल्म याकूब और सुलोचना की ''दूसरी शादी'' लगी थी जो अपने समय की सशक्त सामाजिक फिल्म थी। बसंत में निम्मी की मशहूर फिल्में– बरसात, आन, डंका, कुंदन, उड़न खटोला, पहली रात और मेरे महबूब लगी थीं। मधुबाला, अशोक कुमार की

मशहूर फिल्म "महल" इसी सिनेमाघर में रिलीज़ हुई थी। लखनऊ से जानेवाली प्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री बीनाराय का असली नाम कृष्णा सरीन था। उनके आई.टी. कालेज में छात्रा जीवन का एक छायाचित्र आज भी लालबाग में एक फोटोग्राफर के यहां लगा हुआ है। बीनाराय की फिल्में तलाश, औरत, शगूफा और गोलकुण्डा का कैदी, बसंत सिनेमा में ही रिलीज हुई थीं। गेवा कलर फिल्म 'गोलकुण्डा का कैदी' उनके पति प्रेमनाथ द्वारा बनाई गई थी और जिसके प्रीमियर शो में प्रेमनाथ स्वयं यहां आये थे। हिन्दी पिक्चर पैलेसों में बसंत पहला सिनेमा हाल था जिसमें मेफेयर की तरह अपने आप खुलने वाला रंगीन पर्दा लगाया गया था। बसंत के मालिक अमृतलाल साहनी जी थे, जिनकी प्लास्टिक सर्जरी से बनी हुई नाक मशहूर थी। बसंत सिनेमा के सामने मक़बरा मोहल्ले से जाने वाली रेबेका नाम की ईसाई लड़की बम्बई में माधवी के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसने देवानंद की "ज्वैल थीफ" में काम किया था और जो इत्तिफाक से बसंत में ही लगाई गई थी। अब बसंत सिनेमा शेष नहीं है।

लालबाग सर्कस पर बना हुआ नावेल्टी सिनेमा सन् १९४७ में शुरू हुआ और सन् १९४८ में पूरा हुआ इसे पृथ्वीराज भार्गव जी ने बनवाया था। यहां सबसे पहले नौशाद के सदाबहार गानों से सजी नूरजहां और सुरैया की मशहूर फिल्म "अनमोल घड़ी" लगाई गई थी। बाद में यहीं "जुगनू" भी रिलीज़ हुई। जुगनू में नूरजहां ने पहली बार और अन्तिम बार दिलीप कुमार के साथ काम किया था। और पहली बार और अन्तिम बार ही मोहम्मद रफी के साथ गीत गाये थे। इन दोनों की आवाज में सुप्रसिद्ध गीत "यहां बदला वफ़ा का बेवफाई के सिवा क्या है" फीरोज़ निजामी के संगीत से सजा "जुगनू" का ही गाना है।

नूरजहां बटवारे के बाद पाकिस्तान चली गई और उनके पति शौकत अली की बनाई फिल्म दुपट्टा पहले हिन्दुस्तान में और फिर पाकिस्तान में प्रदर्शित हुई। नूरजहां की ये फिल्म दुपट्टा भारत में

बन चुकी थी और इसके बनाने वाले इसको अपने साथ ले गये थे। इस तरह इस फिल्म पर दोनों देशों का बराबर हक था।

नावेल्टी ने ही व्ही शांताराम की प्रसिद्ध फिल्में दहेज, सुबह का तारा, और झनक–झनक पायल बाजे का प्रदर्शन किया है। उनकी "दहेज" 'परछाई' और 'सुबह का तारा' फिल्मों को शीश महल लखनऊ के विद्वान शम्स लखनवी और नूर लखनवी का सहयोग प्राप्त है। रेहाना, राजकपूर की संगीतमय फिल्म "सुनहरे दिन" मीना कुमारी – दिलीप कुमार की 'आज़ाद' सुरैया और निम्मी की खूबसूरत फिल्त "शमा" और दिलीप, वैजयन्ती माला की फिल्म "गंगा जमुना" इसी सिनेमा हाल में रिलीज हुई लेकिन सबसे ज्यादा शोहरत महबूब की अमर कृति "मदर इण्डिया" के प्रदर्शन से प्राप्त हुई जिसमें नरगिस ने ऐतिहासिक स्तर का विश्वप्रसिद्ध अभिनय किया था। नरगिस की अन्य प्रसिद्ध फिल्में अम्बर, अन्दाज़, आशियाना, आवारा और लाजवंती आदि इसी सिनेमा हाल में चली हैं। नावेल्टी में ही मेला, आज़ाद और जिस देश में गंगा बहती है, जैसी सुंदर फिल्में चलाई गईं। नावेल्टी का नया संस्करण होने पर अभिताभ बच्चन, रेखा और जया बच्चन की बेहतरीन फिल्म सिलसिला लगाई गई थी। इसी टाकीज में "आखिरी रास्ता" के प्रीमियर शो के लिये अमिताभ बच्चन आये थे। अमिताभ की फिल्म "शराबी" ने भी यहां सिल्वर जुबली मनाई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सन् १९४६ में अमीनाबाद में ख्यालीगंज की ढाल पर मनोरंजन टाकीज बना जिसमें पहली फिल्म नौशाद के संगीत से सवारी गई सुरैया और श्याम की 'दिल्लगी' रिलीज हुई। उस समय इसका मैनेजर एक अंग्रेज था जिसने इस फिल्म के विज्ञापन में लिखवा दिया था कि जिसे दिल लगाना सीखना हो, वो दिल्लगी देखे। सुरैया की फिल्में "नाच" 'नाटक' 'खूबसूरत' और 'बड़ी बहन' मनोरंजन में ही दिखाई गई थी। बड़ी बहन के रिलीज पर इसका नाम नाज़ हो गया था। सुरैया के सुमधुर स्वर से सजे गीतों

वाली इस फिल्म में रहमान, प्राण और गीताबाली ने भी काम किया था। गीतावाली की फिल्म गरीबी, ज़लजला, बारादरी और सुहागरात भी यहीं प्रदर्शित की गई थी।

आज़ादी के बाद लखनऊ में सिनेमा हालों के बनने का जो सिलसिला शुरू हुआ था वो अब टूटने के क्रम में बदल गया है। आलमबाग में कृष्णा टाकीज बना जिसकी पहली फिल्म थी शशिकला और किशोर कुमार की "करोड़पति"। शंकर–जयकिशन के शानदार संगीत वाली इस फिल्म में अन्डर वाटर शूटिंग के खूबसूरत शाट्स थे। जो हिन्दी फिल्म के इतिहास में पहले–पहल इस्तेमाल किए गए थे। विशेश्वरनाथ रोड पर जयहिन्द सिनेमा बना जिसमें नरगिस, दिलीप कुमार की "हलचल" पहली फिल्म थी। जयहिन्द में ही निरूपाराय की "नागपंचमी" नर्गिस की "छोटी भाभी" और हिट धार्मिक फिल्म "सन्तोषी माता" आयी थी। अब जयहिन्द सिनेमा की जगह एक बाज़ार तैयार हो गया है। सन् १९७१ में उदयगंज में "अलंकार सिनेमा" बना जिसमें पहली फिल्म "हिम्मत" लगाई गई थी। हजरतगंज में चाइना बाजार के करीब तुलसी सिनेमा हाल बनवाया जिसकी पहली फिल्म "अन्दाज़" (नई) थी और अब वो पिक्चर पैलेस बन्द हो चुका है, गोलागंज में गुलाब टाकीज़ बना जिसमें लाइट एण्ड साउण्ड की विशेष व्यवस्था की गई थी और उसमें पहली फिल्म ओ.पी. रल्हन की "हलचल" (नई) रिलीज़ हुई। इसके निर्माता रायबहादुर गुलाब राय, गोविन्द्र प्रसाद खुनखुन जी (अग्रवाल) थे।

उ.प्र. सचिवालय के बहुत निकट ससेंडी हाऊस के पास 'प्रतिभा' सिनेमा हाल बनवाया गया। यह हाल बहुत दिनों तक प्रेक्षागृह के रूप में प्रयोग किया गया। और जब बाद में राजाज्ञा मिली तो उसमें पहली फिल्म "परमात्मा" दिखाई गई। हजरतगंज में मुबारक कोठी के करीब सन् १९७४ में लीला पिक्चर पैलेस बना जिसमें सबसे पहले "तुलसी विवाह" दिखाई गई। फिर इसमें

"शोले" बड़ी धूमधाम से लगी। रेखा की यादगार फिल्म मुजफ्फर अली की 'उमराव जान' भी इसी में लगाई गई। कोठी नूरबख्श के पीछे जहूर बख्श के सामने 'जयभारत सिनेमा' बनाया गया जिसकी पहली फिल्म "मुग़ले आज़म" थी। सन् १९७६ में बादशाहनगर स्टेशन के करीब उमराव टाकीज बना जिसमें पहले पहल "कादम्बरी" रिलीज हुई। ऐशबाग में पानीघर के करीब अन्जुमन सिनेमा बनने पर "मदर इण्डिया" का प्रदर्शन किया गया। पुराने लखनऊ में अमेठी हाऊस की जगह मोतीझील के पास माधव पैलेस बनवाया गया जिसमें पहली फिल्म "अन्दर बाहर" रिलीज हुई। इसी तरह लक्ष्मणगंज में तुलसीदास मार्ग पर हिन्द टाकीज बना जिसमें पहली फिल्म थी राजकपूर की "राम तेरी गंगा मैली।" नए लखनऊ में गोमती पार कपूरथला स्ववायर में सन् १९८८ में विवेक टाकीज़ बना जिसमें "आखिरी रास्ता" रिलीज हुई थी। लेकिन सिनेमाघरों की इस दास्तान में न कोई आखरी रास्ता रहेगा और न कोई आखरी मंजिल होगी। नए दौर के साथ–साथ नये गुल खिलते रहेगें लेकिन एक बात कहनी होगी कि आज के समाज में इन्सान तमाम बनावट के बावजूद बिल्कुल सपाट खुदगर्ज़ और बड़ी उबाऊ ज़िन्दगी जीता है। इसलिए उसकी कहानी में वो रोमांटिक रेशमी अनुभूतियां नहीं होती, उतार चढ़ाव के वो रोचक रंग नहीं होते, जो बात पहले की बातों में थी और इस दौर का इतिहास जब भी लिखा जाएगा बेशक बड़ा बेजान और बहुत ही बेमज़ा होगा।

□□

फ़िल्मों की महफ़िल और लखनऊ

भारतीय फिल्मों के पुरोधा दादा साहब फाल्के ने जब सन् 1913 में अपनी फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' प्रस्तुत की तो हिन्दुस्तान के इतिहास में चित्रपट ने आँखें खोली थीं हालांकि अभी उसकी ज़बान बन्द थी और यह मूक फिल्में बाइसकोप कहलाती थी यह बात और है कि महाराष्ट्र के ही दादा साहब तोरणे इससे पहले अपनी फिल्म 'पुण्डलीक' सन् 1912 में पेश कर चुके थे। फिल्म 'आलमआ़रा' से बोलती फिल्मों की शुरुआत हुई और सिनेमा को टाकी कहा जाने लगा। इसके साथ ही सिनेमाई संस्कृति में लखनऊ के योगदान का शुभारम्भ समझा जाने लगा। फिल्मों की भाषा का तक़ाजा सदा के यह रहा है कि उसकी ज़बान साफ–सुथरी असरदार और निर्दोष हो तो इस बात से भी किसी को इनकार ने होगा कि लखनऊ इस दौलत से सबसे अधिक मालामाल है। उत्तर प्रदेश जिसे खड़ी बोली हिन्दी का गढ़ समझा जाता है उसमें भी पूरब पश्चिम के हिस्सों में वो सलीकेदार बोली नहीं है जो लखनऊ के पास है फिल्मों में जितने भी कहानी, पटकथा और संवाद लिखने वाले गये या गीतकार पहुँचे उन सबने लखनऊ की मानक जबान को अपना आदर्श मानकर काम किया।

नगर के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार पंड़ित अमृत लाल नागर सन् 1940 से 1947 तक लगभग साढ़े सात वर्ष फिल्म उद्योग से जुड़े रहे और उदय शंकर की 'कल्पना' सरीखी अनेक फिल्मों में अपना योगदान दिया। उनके ही भाई लखनऊ के रतन लाल नागर जी भारतीय रजत पट के दक्ष कैमरामैन थे। उन्होंने सन् 1945 में 'गुड़िया' फिल्म से शुरुआत की थी और फिर 'काजल' (सुरैया) चमन, लाडली आदि फिल्मों का छायांकन किया। उनके द्वारा तैयार की गयी अन्य प्रसिद्ध फिल्में थीं सुरैया की 'चार दिन', मुनव्वर

सुल्ताना की 'सबक़' मधुबाला की 'सैंया' कामिनी कौशल की 'पूनम' नूतन की 'शबाब' निम्मी की 'छोटे बाबू' आशा पारिख की 'मेरी सूरत तेरी आँखें' और पद्मिनी रागिनी की फिल्म 'कल्पना'।

लखनऊ के हास्य रंगकर्मी मास्टरहादी ने इम्पीरियल कम्पनी की कई फिल्मों में काम किया था, लेकिन अमीनाबाद (लाल खां का हाता) के संगीत सम्राट नौशाद तो सारे फिल्मोउद्योग पर सदा भारी रहे। नौशाद अली ने बम्बई के सिनेमा संसार में पहुँच कर भारतीय फिल्म संगीत का रूख ही मोड़ दिया और उसमें वो कशिश पैदा की कि आज तक दुनिया जिसकी दीवानी है। फिल्म 'शाहजहाँ', 'अनमोल घड़ी', 'रतन', 'मेला', 'बैजू बावरा', 'बाबुल', 'अमर', 'आन', अंदाज़ 'उड़न खटोला', 'मदर इंडिया', 'शबाब', 'मुगले आजम', 'गंगा जमुना', 'मेरे महबूब' जैसी तमाम फिल्मों का अमर संगीत सदा उन के फन की गवाही देता रहेगा।

लखनऊ के शीशमहल इलाके से जाने वाले मुंशी शम्स लखनवी साहब ने व्ही शान्ताराम की सुप्रसिद्ध फिल्मों, 'दहेज', 'सुबह का तारा', 'परछाई' और 'सेहरा' को अपने क़लम से संवारा। 'दहेज' की तो कहानी ही ठाकुरगंज लखनऊ की एक हवेली की कहानी है। 'शम्स' के भाई नूर लखनवी ने इन पहली तीनों फिल्मों के लिए बेहतरीन गाने लिखे जिन्हें सी. राम चन्द्र ने सुमधुर संगीत देकर अमर कर दिया उनमें 'दहेज' का गीत 'वो तो बाँस बरेली से आया' और 'अमवा की डारी पे बोले री कोयलिया' अवध के लोकगीतों का प्रभाव लिये हुये है। 'सुबह का तारा' की गज़ल 'अरे जो जाने वाले रूख से आँचल को हटा देना' तथा परछाई की गज़ल 'मुहब्बत ही जो ना समझे वो ज़ालिम प्यार क्या जाने' को कौन भुला सकता है।

लखनऊ के सुप्रसिद्ध लेखक बाबू भगवती चरण वर्मा के बहुचर्चित उपन्यास 'चित्रलेखा' पर दो बार फिल्में बनीं पहली 'चित्रलेखा' श्वेत श्याम थी जिसकी हीरोइन महताब थीं दूसरी

'चित्रलेखा' मीना कुमारी की रंगीन अविस्मरणीय फिल्म बनी।

लखनऊ से गए मुनव्वर आग़ा मजनूँ ने अनेक फिल्मों में काम किया तो हसरत लखनवी ने फिल्में लिखी और मिर्ज़ा वजाहत ने तमाम फिल्मों की पटकथा तैयार की जिनमें 'मुग़ले आज़म के संवादों ने उन्हें अमर कर दिया। वजीरगंज के नामवर लेखक आग़ाजानी कश्मीरी और अली रजा साहब ने बहुत सी फिल्मों की कहानी लिखी, पटकथा और संवाद लिखे। कच्चा हाता मौलवीगंज के रहने वाले मिज्जन साहब जाने आलम के महल कें 'दारोगा' के बेटे थे। मिज्जन ने कुमार के नाम से 'पूरन भगत' 'यहूदी की लड़की', 'नजमा', 'देवर', 'मेंहदी', 'ओर 'दायरा' में काम किया। 'मुगले आजम' में उन्होंने संगतराश की भूमिका की थी।

पुराने समय में गोलागंज के सैयद अनवर हुसैन 'आरजू' लखनवी (स्ट्रीट सिंगर, आँधी, डाक्टर, रोटी, सिपहियां, बेकसूर, और लगन) सदर के दिल लखनवी, चौक के जोश मलिहाबादी और बहजाद (राजकपूर की आग) लखनवी के गीत फिल्मों की रौनक बढ़ाते रहे हैं। हसरत लखनवी ने 'भलाई', 'कनीज' और 'बेताब' के लिए कलमकारी की तो ताहिर लखनवी ने 'नखरे', 'दारा' और 'अली बाबा चालीस चोर' के गीत संवाद लिखे। लखनऊ के नवाब मिर्ज़ा शौक़ की मसवनी ज़हरे इश्क का बन्द, 'देख लो आज हमको जी भरके' फिल्म बाज़ार में, हसरत मोहानी की ग़ज़ल 'चुपके चुपके रात दिन' निकाह में रखी गई। इसी तरह मजाज की मशहूर नज्म आवारा 'ऐ ग़मे दिल क्या करू' फ़िल्म ठोकर में रखी गई।

मुजफ्फ़र लखनवी ने 'रतन मंजरी' और नफ़ीस लखनवी ने 'बुलबुल' फिल्म के गाने लिखे थे। सुरूर लखनवी और जलाल मलिहाबादी (बरसात) ने भी फिल्मी गीत लिखे है। लखनऊ स्कूल के शायर अख़्तर उल ईमान ने बी.आर. चोपड़ा की अनेक फिल्मों के संवाद लिखे हैं। दुगावां लखनऊ के निवासी प्रसिद्ध शायर हसन

कमाल ने 'तवायफ़', 'निकाह' आदि फ़िल्मों के गीत लिखे। नज़रबाग के निवासी तलत महमूद जो गजलों के बादशाह कहे जाते थे फिल्मी दुनिया में अपनी तरह के अलग गायक थे। उनकी मखमली आवाज में फिल्म 'दाग', 'आराम', 'तराना', 'संगदिल', 'रेलवे प्लेटफार्म', 'लैला मजनूं', 'वारिस', 'दिले नादान', 'आरजू', 'एक गाँव की कहानी', 'सुजाता', 'जहाँआरा' जैसी बहुत सी फिल्मों में गाए गए गीत आज भी लाजवाब हैं।

गनेशगंज लखनऊ के वासी ब्रजेन्द्र गौड़ ने मंजिले, 'सरदार', 'संग्राम', 'चानी', 'हावड़ा ब्रिज', 'दुल्हन वही जो पिया मन भाए', फिल्मों के संवाद लिखे और 'कस्तूरी' फिल्म का निर्माण भी किया। उनके ही भतीजे योगेश ने आनन्द, मिली, जैसी बहुत सी फिल्मों को गीत दिये।

लखनऊ कैसरबाग, कोटवारा हाउस के मुजफ्फर अली साहब ने फिल्मी दुनिया को 'गमन', 'आगमन', 'उमराव जान', और अंजुमन' जैसी फिल्में दीं। इनमें रेखा की फिल्म 'उमराव जान' तो तहलका है, जिसने सारे संसार के आगे लखनऊ की जीती जागती तस्वीर पेश की। लखनऊ के सोंधी टोला चौक निवासी आर.के. शुक्ला ने 'मृगतृष्णा' (योगिता बाली, विनोद, मेहरा) राजकुमार त्रिवेदी ने 'छोरी गांव की' रियाज़ अहमद ने 'जहरे इश्क' और तालाब गंगनी शुक्ल के सुनील बत्ता जी ने 'अम्मा' फिल्मों को परदे तक पहुँचाया। लखनऊ के अनूप जलोटा ने भी फिल्मी दुनिया में अपनी शिरकत दर्ज की। इसी तरह कैण्ट लखनऊ के कलाकार हिदलानी ने कई फिल्मों में अभिनय किया और फिर फिल्मी लेखन का कार्यभार संभाला।

लखनऊ के सशक्त हस्ताक्षर पद्म श्री के.पी. सक्सेना जी ने आमिर खान की मशहूर फिल्म 'लगान' के सम्वाद लिखे जिसमें यहां के प्रसिद्ध रंगकर्मी राजा अवस्थी ने अच्छा अभिनय किया।

एक जमाने में लखनऊ चौक की छोटी जद्दन की बेटी नरगिस और वहीदन की लड़की निम्मी ने तो फिल्मी दुनिया में धूम मचा दी थी मचाई थी। चौक की ही रेहाना ने दर्जनों रिकार्ड तोड़ फिल्मों (सगाई, सरगम, ऐक्ट्रेस, सुनहरे दिन, नतीजा, रंगीली) में काम किया। आई.टी. कालेज, लखनऊ से गयी कृष्णा सरीन, बीना राय के नाम से फिल्माकाश का सितारा बन कर चमकीं उनकी फिल्में 'काली घटा', अनार कली, शोले, मेरा सलाम, चंगेज खाँ, ताजमहल, दुर्गेश नंदिनी, घूँघट, दादी माँ, और राम राज्य प्रसिद्ध हैं। उनके साथ आशा माथुर और इन्द्रापांचाल ने भी 'काली घटा' में काम किया था आशा माथुर ने बाद में 'धुँआ', 'बिल्व मंगल', आदि फिल्में भी कीं। लालबाग की माधवी ने ज्वेलथीफ़, हमारी याद आयेगी और महिला कालेज की आशा टिक्कू ने 'आलमआरा' फिल्मों में काम किया। कला साहित्य संस्कृत के लखनवी संस्थान नागर जी की बेटी अचला नागर ने 'निकाह' जैसी मशहूर फिल्म की कहानी लिखी और फिर अनेक फिल्मों को कथा, पटकथा दी उनके ही पुत्र सिद्धार्थ नागर आज फिल्म निर्माण में संलग्न है। गज़ल साम्राज्ञी बेगम अख़्तर ने बम्बई जाकर महबूब की मशहूर फिल्म 'रोटी' में अभिनय किया था और सत्यजीत राय की 'जलसाघर' में भी नज़र आयीं थीं। उनको लेकर ही लखनऊ के कैलाश स्टूड़ियों और आइडियल फिल्म स्टूडियों ने कुछ सपने बुने थे जिनके साथ पंडित विश्वनाथ मिश्र, कृष्णा मिश्रा जैसे कलाकार थे। बाद में इसी श्रेणी के कुछ रंगकर्मी फिल्मों में नजर आते रहे जिनमें प्रमोद बाला, शाहीन सुल्ताना, विजय वास्तव, डॉ. अनिल रस्तोगी, वीनू कलसी और पी.डी. वर्मा साहब उल्लेखनीय है।

सुप्रसिद्ध रंगकर्मी कवियित्री माया बहल जो अब माया गोविन्द है मोती नगर की निवासिनी और महिला विद्यालय की स्टूडेन्ट रही हैं। उन्होंने फिल्मों के लिए अत्यन्त प्रभावी गीतों की रचनाएँ की और फिल्म निर्माण भी किया।

लखनऊ शहर की छवि अशोक कुमार वीना की 'नजमा' में

सोहराब मोदी की फिल्म 'शीशमहल' (छतर मंजिल के दृश्य) जयश्री करन दीवान की 'दहेज' (ठाकुरगंज के दृश्य), अशोक कुमार की 'संग्राम (डालीगंज पुल के निकट के दृश्य) नरगिस की 'अनहोनी (कोठी मार्टिन साहब के दृश्य) अजीत, जयश्री की 'मेंहदी' (सिकन्दर बाग, बनारसी बाग के सीन) सुरैया निम्मी की 'शमा' (हजरतगंज के सफेद रौजे का दृश्य) देवानन्द, नूतन की 'पेइंग गेस्ट' (रेजीडेंसी पक्के पुल के दृश्य) वहीदा रहमान की 'चौदहवी का चाँद' (कैसरबाग के दृश्य) साधना की 'मेरे महबूब' (अमीनाबाद का दृश्य) राजेन्द्र कुमार की 'पालकी' (चारबाग स्टेशन का दृश्य) राज कुमार की 'मेरे हुजूर' (गोल्फ मैदान का दृश्य), मीनाकुमारी की बहू बेगम (हुसैनाबाद का दृश्य) शतरंज के खिलाड़ी (बख्शी तालाब के निकट गाँव का दृश्य) रेखा की 'उमराव जान' (काकोरी, मूसाबाग के दृश्य) मुजफ्फर अली की फिल्म 'अंजुमन' (नये महल के दृश्य) फारूख शेख की 'जहरे इश्क' (मिसरी की बगिया के दृश्य) में बाक़ायदा मिलती है।

आज भी लखनऊ अपने को फिल्मों के बहुत करीब पाता है और शायद आगे भी रहेगा।

□□

चाँदनी के बूटे और धूप की कलियां

लखनऊ इमामबाड़ों का शहर है और यहाँ आज भी छोटे–बड़े तमाम इमामबाड़े है लेकिन उन इमामबाड़ों की भीड़ में सब से अनोखा है "मुग़ल साहिबा का इमामबाड़ा" जो वज़ीर बाग के पास उजड़ा और उदास खड़ा है। ये इमामबाड़ा अस्तरकारी के आर्ट की दृष्टि से बेजोड़ है और अगर इसे बेशुमार नर्मनाज़ुक गुलबूटों का एक संग्रहालय कहा जाये तो ग़लत न होगा। इस इमामबाड़ें का शानदार फाटक और आसपास के दरो दीवार अब सलामत नहीं है। लेकिन उनके बचे हुये भाग भी इस बात की गवाही देते हैं कि उन पर भी बेहतरीन गुलकारी कभी रही होगी। यहां बादामी ज़मीन पर बारीकी के साथ चूने को उभार कर स्टूको वर्क के बड़े नफ़ीस डिज़ाइन बनाये गये हैं। इसीलिए लखनऊ वाले इस इमामबाड़ें को चिकनंदाजी का नमूनाघर मानते हैं। डेढ़ सदी तक इस इमारत से चिकनकारी के लिए फूल पत्ते चुराये गये हैं और आज भी चिकन के छापे बनाने वाले इस इमामबाड़ें की दीवारों के साए में बसे हुये हैं।

मीठी खिचड़ी से लन्दन तक :–

फ़ारसी का एक शब्द है चाकिन जिसका मतलब है कशीदाकारी या बेलबूटे उभारना, यही शब्द चाकिन हिन्दुस्तान में प्रयत्नलाघव में 'चिकन' कहा जाने लगा। साम्राज्ञी नूरजहाँ ईरानी नस्ल की वो शिया बेगम थी जिसने अपने संस्कारों की स्थापना हिन्दुस्तान में पहले पहल की थी। महल के दरो दीवार पर की गई नक्शानिगारी को कपड़े के दामन में उतारलेने की इस कला को नूरजहाँ के समय में विशेष प्रोत्साहन मिला और इस काम के लिए हरम में कुछ हुनरमन्द औरतें मुलाजिम होने लगी।

मलकए आलम नूरजहाँ की एक बांदी विस्मिल्लाह जब दिल्ली से लखनऊ आकर आबाद हुई तो वो अपने साथ इस हस्तकला को यहाँ लाई। लखनऊ में गोमती के उस पार खदरा का इलाका चिकन शिल्प का जन्मस्थान माना जाता है। इसी क्षेत्र में शाहाने अवध का रनिवास था जो हुस्नबाग कहलाता था या फिर "दौलत सरा–ए–सुल्तानी" के नाम से जाना जाता था। मलिकाओं और बेगमों की इस जनानी डयोढ़ी में कनीजों ओर खवासों के हाथों इस हुनर की परवरिश हुई और फ़िर लखनवी चिकन का काम दुनिया में दूर–दूर तक मशहूर हो गया। लखनऊ डालीगंज के इसी "मीठी–खिंचडी" नाम क़े इलाक़े की परदानशीन औरतों के नाजुक हाथों का तैयार क़िया हुआ चिकन आर्ट लन्दन के अलबर्ट म्यूजियम में लगा हुआ है।

छत्तीस टांकों का खेल :

कला ओर शिल्प के क्षेत्र में भी लखनऊ आर्ट की नफ़ासत का अपना एक अलग रंग रहता है चिकन जिसका श्रेष्ठ उदाहरण है। चिकन की सबसे बड़ी विशेषता ये है कि इसमें किसी आडम्बर या तड़क–भड़क की नुमाइश नहीं है ये ख़ालिस हुनर की करामात है। सारी दुनिया में इतनी कम लागत में इतने ऊँचे दर्जे की दूसरी कोई कशीदाकारी नहीं हैं। कच्चे सूत के टांकों से लिबास पर चांदनी के से खुशनुमा फूलबूटों को बिखेर कर अनोखी शान पैदा करना ही चिकन का काम है। अदना सी चीज को इतनी अज़मत दे देने की तरकीबें सिर्फ़ लखनऊ के पास है।

गंगा जमुना के दो आबे में गर्मी के मौसम में कामदार भारी कपड़े हमेशा ही वरदाश्त के बाहर की चीज़ होते है सिवा इसके कि मलमल, अद्धी, तनजेब जैसे हल्के सूती कपड़े पहन लिए जायें और ऐसे कपड़ों की रौनक बढ़ाने की गरज़ से चिकन को खूब पसन्द किया गया। नवाबी जमाने में मलमल के कुरते पर जूही के हार इस

खूबसूरती से बनाए जाते थे कि देखने वाले समझते थे कि पहनते वाला गले में फूलों का ताजा गजरा डाले हुये है। ये बूटे स्टूकों वर्क की तरह सतह से कुछ उभरे हुये रहते थे। चिकन का सबसे कीमती टांका यही होता है जिसे मुर्री या मुण्डी कहते हैं। चिकनकारी में 36 तरह के टांकों का इस्तेमाल होता है जिनमें मुर्री, बखिया, उल्टी बखिया, जाली, तेपची तथा धूमकटी, हथकटी, फन्दा, चना–पत्ती, धनिया, लौंग, पत्ती, पंखड़ी, क़ील और बिजली, कंगन प्रमुख हैं। आजकल चिकन को लोक प्रिय बनाने में सस्ते रेट पर जो घटिया काम बनाया जाता है वो सिर्फ शैड़ो वर्क से होता है। जिसे लखनऊ की जबान में 'बखिया' कहा जाता है और दरअसल ये चिकन नहीं हैं।

चिकन तब और अब :–

चिकन के परम्परागत गुलबूटों पर अगर निगाह डाली जाए तो पुरानी शैली और नयी शैली में बहुत अन्तर हो चुका है। पहले अगर बारीकी रियाज और खुशनुमाई का ज्यादा ख़्याल रखा जाता था तो अब चलताऊ, दिखाऊ और फैलाव का काम अधिक होता है। अपने समय की पहचान के अनुसार शाही दौर में शिकारगाहो की नकल पर पशुपक्षियों की आकृतियाँ बहुत लोकप्रिय थीं। नवाबों के प्रिय मोटिफ मछलियों के जोड़े, ताज, गुलदस्ते, मोर, कबूतर या फ़ारसी अक्षरों की कढ़ाई का प्रचलन पिछली सदी के अन्त तक क़ायम रहा लेकिन जब केवल फूल, पत्ते, बेलबूटे और कैरियों के नमूने ही अधिक बनते हैं। आजकल चिकन में कुछ लोककला का प्रभाव भी देखा जाता है।

चिकन के लिए नमूने पहले लकड़ी के छापे पर खोद कर बनाए जाते हैं और छीपी लोग कच्चे रंगों से ये बेलबूटे कपड़ों पर छाप देते है इस काम को 'बूटा लिखना' कहा जाता है और इसके लिए चौक लखनऊ की "गली पारचा" प्रसिद्ध है। चिकन का काम हो जाने के बाद कुछ खास किस्म के धोवक इन कपड़ों को धोते है जो आसानी

से छापे का रंग निकालकर कच्चे सूत की कलियों को उजला कर लेते हैं।

नवाबी ज़माने में पूरब की मलमल, अद्धी, गिलास की नैन सुख (ग्लासगो का बना महीन कपड़ा) तनज़ेब, आबे खाँ वग़ैरा पर चिकन का काम बनाया जाता था। इन कपड़ों से ही अंगरखे, दुपट्टे, मर्दाने और ज़नाने कुरते, रूमाल, चोगे और टोपियां बनती थी। आजकल सिल्क जार्जेट, केम्ब्रिक, नायलोन, लोन, रूबिया, .फ़ुलवायल, सेमी वायल और आरगंडी सब पर चिकन का काम होता है जिनसे कुरते, साड़ियां मैक्सी, मिडी, हैंकी, स्कार्फ, नैपकिन, टोपियां, पलंग पोश, मेजपोश टिकोजी आदि बनती हैं। कच्चे सूत के तीन तार. या पांच तार लेकर बारीक सुई से चिकन का परम्परागत काम किया जाता है। लेकिन इन दिनों रंगीन धागों से भी काम होने लगा है।

चिकन के कुरतों टोपियों की सारी सिलाई हाथ से की जाती है। कलीदार कुरतों को तुरपने वाले कलियां सीते वक्त उनमें सुन्दर बेलें बिठा देते हैं और ऐसे कुरते दरजदार कुरते कहे जाते हैं। लखनऊ में चिकन के कुरते सीधे गले के ताबीजदार भी कढ़ते हैं और गोलगले के तौकदार भी जिनमें बगल से सीना खुलता है। अंगरखा तर्ज़ के ये कुरते धुण्डी तस्में से बंद किये जाते है और प्रायः इनमें काज बटन नहीं लगाया जाता है।

कारीगरी और कमाल :

चिकन का काम अवध की औरतों का पसन्दीदा शग़ल रहा है। इस हुनर को महल की बेगमों ने अपनी खादिमाओं से सीखा था और बहू बेटियों को भी इस दस्तकारी की तालीम दिलायी थी इस तरह धीरे–धीरे ये सभी स्त्रियों की दिलचस्पी का साधन बन गया। ऊँचे घरानों में अगर ये एक शौक की सूरत है तो यही गरीबों की जीविका का सहारा हो गया।

लखनऊ में आज भी चिकन का काम 96 प्रतिशत महिलाओं द्वारा

ही होता है जिसमें अवध इलाके की 60 हजार औरतें लगी हुई हैं। लखनऊ की ये प्रायः परदेदार औरतें मुफ्तीगंज, ठाकुरगंज, तोपखाना, टूड़ियागंज, हुसैनाबाद, चौपटियां, सआदतगंज, शीशमहल, रईस मंजिल, मौलवीगंज, रस्सीबटान, मदहेगंज, लाहौरगंज में रहती है। शहर बाहर जनपद के मलिहाबाद, काकोरी, रहीमाबाद, इटौंजा, आलमनगर, रहमतनगर, उतरठिया, कहिला, गोसाईगंज क्षेत्र में और ज़िले के बाहर मोहान, सण्डीला, दरियाबाद आदि स्थानों पर भी चिकन का काम होता है लेकिन मामूली स्तर का होता है।

शहर के कुछ मर्दों ने चिकन का काम किसी ज़माने में शौकिया अपनाया लेकिन उसमें कुछ एक ने अपने नाम की लकीर खींच कर रख दी। लखनऊ में चिकन के एक नामी उस्ताद मुन्ने मिर्ज़ा हुये है जो बिना छापे का धूमा हुआ मुहमुरा बनाने में माहिर थे। इसी तरह कागजी चिकन बनाने वाले कारीगर भी हुये है। पुराने वक्त में हस्सू खाँ और लड्डन खाँ ने भी इस हुनर में शोहरत हासिल की

आज़ादी के बाद जनवरी सन् 1948 में गांधी जी ने काखीतान वाले एक चिकन कारीगर को पुरस्कृत किया था। इसके बाद से लखनऊ चिकन पर राष्ट्रीय पुरस्कार दिए जाने लगे। जिसके लिए कारीगरों में प्रतियोगिता होने लगी। सन् 1965 में लखनऊ के चिकन उस्ताद फैयाज़ खाँ अपने काम की बारीकी के लिए पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित हुये। वो दोनों आखों से अंधे हो चुके थे। और अब जीवित नहीं है।

सन् 1979 का प्रथम पुरस्कार हसन मिर्जा साहब को मिला जो पनके बाबू के नाम से मशहूर थे। उनको अनोखी चिकने का अविष्कारक माना जाता है। इस चिकनकारी में बारीक से बारीक कपड़ों में भी बिना सुई पार किए चिकन के सारे टांके लगाये जाते हैं। इतने महीन कपड़े के ताने बाने में से सुई को जिगर फाड़ कर निकालना कोई आसान काम नहीं है। इस काम में कपड़े के दूसरी

तरफ सतह पर कोई भी टांका या पहचान ढूंढने से नहीं मिलती है।

अनोखी चिकन के रूप में ये कला अपने चरम पर स्थापित हुई है। कुछ लोग फ़ैयाज खाँ साहब को ही इस कला का पहला उस्ताद बताते है। आजकल उस्ताद हसन मिर्ज़ा साहिब की दो बेटियाँ अख्तर जहां और रेहाना बेगम इस क्षेत्र में अपना नाम पैदा कर चुकी है और जो तहसीनगंज में रहती है, डालीगंज की सालेहा बेगम ने भी चिकन आर्टिस्ट के रूप में अपनी अलग जग़ह बना ली है।

लखनऊ चिकन का निर्यात 4–5 करोड़ रुपये सालाना की दर से होता है। चिकन के प्रमुख खरीददार मुल्क पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान, हालैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, स्पेन, रूस, कनाडा, अमेरिका, तथा दक्षिण पूर्व एशिया के देश है। चिकन का ये सफ़र बड़ा लम्बा है जो कि कारीगर औरतों के बेबस हाथों में से होकर दलालों और व्यापारियों की मज़बूत मुट्ठियों में से होता हुआ बाज़ारों में खरीददारों तक पहुंचा है।

दूधिया कलियों वाले चिकन के जो चराग़, लखनऊ ने जलाये उनकी किरने आज दूर–दूर तक जमाने भर में बिखर रही है। लेकिन इस उजली तस्वीर का सबसे अंधेरा पहलू ये है कि चिकन के जो कारीगर दिनरात अपनी आंखों की रोशनी के तार दूसरों के लिबास पर टांकते हैं उनकी ही दुनिया अंधेरी है।

धूप की कलियां 'ज़रदोजी' :–

ज़रदोज़ी फ़ारसी भाषा का शब्द है जिसका मतलब है सोने चाँदी के तारों को कपड़ें में दबा दबा कर कशीदाकारी का काम। ज़ाहिर है कि इस तरह के कीमती और उच्चकोटि के काम के लिए कपड़ा भी रेशमी मखमली या उसी तरह की कोई मंहगी किस्म का होना चाहिए।

भारत में सोने चाँदी की तारकशी के कपड़ों का इतिहास बहुत

पुराना है। मन्दिरों में देवी–देवताओं के वस्त्राभरण और राजघरानों के राजसी–परिधानों में स्वर्ण–रजत खचित कपड़ों की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है और संस्कृत के ग्रन्थों में उनका उल्लेख है।

7वीं सदी के मध्य में चीनी यात्री ह्वेनसांग जब सम्राट हर्षवर्द्धन के राजदरबार में आया था तो उसने राजकुमारी को सोने की ज़री–बूटीदार जामनी लहंगा (दक्षिणापथ) और स्वर्णखचित कामदार ओढ़नी (उत्तरीय) पहने देखा था।

ज़रदोजी की रवायत भारत में मुस्लिम शासनकाल में बहुत अधिक पैमाने पर पहुंच गई थी क्योंकि उनके हरम की औरतें तड़क भड़क वाले लिबास पहनना पसंद करती थीं। विदेशी नस्लों के साथ विदेश से उनके अपने तौर तरीके और दस्तकारी के ढंग भी आए थे। मुगलों के दौर में जो ज़रदोज यहां आए उनके अनुसार उनकी कारीगरी की शुरुआत हज़रत यूसुफ (एकपैगम्बर जिन्हें बाइबिल में जोसेफ कहा गया है) से हुई, जो सुई के हर काम में माहिर थे और इस तरह ये फन मिस्र देश की ईजाद है। इसके बावजूद ये सभी जानते हैं कि मिस्र, बेबीलोन, यूनान, भारत और चीन आदि मुल्क बहुत पहले से सुसंस्कृत थे और सभी क्षेत्रों में उन सबकी अपनी–अपनी दख़ल थी।

आगरा, बनारस और लखनऊ शहर ज़री, कारचौबी, कामदानी और फर्दी के काम में बड़े नामदार हुए है लेकिन लखनऊ के शाही दौर में ज़रदोजी अपने पूरे शवाब पर थी और इस कला को इस शहर के मिजाज के मुताबिक और नफीस बना लिया गया था। जरदोजी का प्रारम्भिक काम कामदानी है। कामदानी का काम बादले से किया जाता है, जो सोने चाँदी के तार होते हैं। ये काम महीन कपड़ों पर चुटकी से पकड़ कर सुई से किया जाता है। सिर्फ सितारों की बूटियां डालने पर इसी काम को फ़र्दी या मुकेश का काम कहते हैं। लखनऊ में पुराने वक्त में बड़ी–बड़ी फ़र्दी दूर–दूर पड़ती थी। लेकिन अब बहुत धनी छोटी और महीन फ़र्दी डाली जाती हैं। कामदानी में

फूल–पत्तियां, बेल–बूटे भी बनते हैं और ये काम अधिकतर जार्जेट, शिफान, वायल आदि के दुपट्टों, साड़ियों पर ही बनता है।

ज़रदोजी का काम कामदानी से चार हाथ आगे हैं। ये काम अड्डे पर किया जाता है। लकड़ी के फ्रेम वाला ये अड्डा कारचोब क़हलाता है, जिस पर कपड़ा तना रहता है। इस काम के लिए साटन, जार्जेट, क्रेप, सिल्क, मख़मल या कोई भी अच्छा रेशमी कपड़ा लिया जाता है। इसमें सुई के बजाए मुठिया से काम लिया जाता है। लकड़ी की पतली मूठ वाली लम्बी हुकदार मोटी सुइयाँ, कलाबत्तू, सितारे, मोती और सलमे को ऊपर से कपड़ें में फंसाती जाती है। ज़रदोजी की कढ़ाई की किस्में, दपका, सलमा (नक्शी) आरी और गोटा है। इनमें कसब (सितारे) टीकी, चुटकी, कटोरी, पोत, सुराही, करदन और मोती भी लगते हैं

ज़रदोजी में प्रयोग किये जाने वाले सुनहले रूपहले तार अलग–अलग ढंग के होते हैं, जो बूटेकारी के अनुसार इस्तेमाल किए जाते हैं। ये तिल्ला, गिर्द, चपटा, झिलमिल कहे जाते हैं, इनमें सादी, कोरी वगैरह किस्मे होती हैं। इस तरह के काम में बहुत अधिक संभावनाएं हैं। ज़रूरत के हिसाब से यहां हल्का और भारी काम किया जाता है क्योंकि ज़रदोजी, साड़ी, दुपट्टे, लहंगे, गरारे, चोली, वास्कटों, टोपियों और जूतियों सभी पर बनता है। इस काम की डिजाइनों में फूल–फल, कली पत्ती, मछली, पंछी, मोर, बूटे, गुच्छे, पंखड़ी, झुमके, छल्ले आदि प्रमुख हैं। पहले ज़माने में सारा का सारा काम सच्चा और असली बनता था लेकिन अब नकली सामान से ही तैयार किया जाता है, जो चमक दमक में लगभग वैसा ही दिखता है। ये काम महंगा तो बहुत होता है लेकिन बाद में इसकी वापसी सिफ़र हो जाती है।

ज़रदोजी का काम जब भारी और कसा हुआ होता है तो इसे कारचौबी भी कहा जाता है, इसमें सिर्फ सलमें, तिल्ले और मोतियों का इस्तेमाल होता है, तारकशी और सितारों का नहीं। वक्त के साथ

ऐसा समझा जाने लगा था कि शायद जरदोजी के काम की कद्र धीरे–धीरे कम होने लगेगी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। आज के युग में भी सांस्कृतिक सुरुचि और परम्परागत पहनावों के बढ़ जाने के कारण कामदार लहंगे, साड़ियों, दुपट्टों का प्रचलन बढ़ता ही चला गया और इस तरह इस काम की दिनोंदिन मांग बढ़ती ही गई। आज लखनऊ में हजारों बड़े–बूढ़े और बच्चे जरदोजी के काम में लगे हुए है और इसी से अपनी जीविका कमा रहे हैं। अच्छे कारीगर छोटी आयु के लड़कों को अड्डों पर बिठाना शुरू कर देते हैं, जो आगे चल कर सिद्धहस्त ही जाते हैं। खास–बात ये है कि जरदोजी की दस्तकारी में औरतों की कोई शिरकत नहीं है। लखनऊ के मुफ्तीगंज, मुसाहिबगंज, सआदतगंज, मेंहदीगंज, वजीरबाग, रूस्तम नगर, चौपटियां, अम्बरगंज, खदरा, रस्सीबटान, और मौलवीगंज, आदि इलाकों में जगह–जगह जरदोजी के कारखाने लगे हैं, जहां अड्डों पर साड़ियां चढ़ी रहती है और काम बनता रहता है। इन उद्योगों को चलाने वाले करखनदार कहे जाते है। इस काम की मांग हिन्दुस्तान में यू.पी. दिल्ली, पंजाब और हैदराबाद की तरफ तो है ही, पाकिस्तान सऊदिया और आस पास के मुल्कों में भी कम नहीं है और आज लखनऊ के हैण्डीक्रेक्ट में चिकन के बाद जरदोजी का ही बोलबाला है।

ब्लाक प्रिंटिंग और लखनउवा फ़र्द

हाथ छपाई वस्त्र उद्योग लखनऊ में तीन सौ वर्ष से अधिक पुराना है। यहाँ प्राचीन मौर्य, गुप्त कालीन मूर्तियों, राजपूत काल की मृण्मूर्तियों भारशिवों के समय की मृद्भाण्ड परम्परा और रजपासियों के समय के तीर तरकश के साथ–साथ छपाई का भी विकास होता रहा और फिर नवाबी दौर में यह कला अपने चरमउत्कर्ष पर पहुँच गयी। जहाँ तक इसका ऐतिहासिक विवरण मिलता है किसी समय यहाँ इस काम के हजार से अधिक कुशल कारीगर इस उद्योग में लगे हुए थे।

इस प्रकार के देशी वस्त्र उद्योगों को सबसे अधिक हानि ब्रिटिश शासन काल में पहुँची जब मिल के बने सस्ते कपड़े प्रचलन में आ गये और इनका शासकीय संरक्षण समाप्त हो गया। लखनऊ के इस निजी वस्त्र उद्योग की अपनी एक अलग पहचान रही है जो इसे फर्रूखावादी छींटों और सांगानेरी फर्दो से अलग करती है। लखनऊ के छापों के रंग कुछ अलग पुकारते हैं जिनमें कैरी, बूटी, बिच्छू, बिजली, फूल, चीनापत्ती, बाजरा, जामेवार, लौंग, मछली, और गुलदस्तों की धूम रहती है। इनकी विशिष्टता और लोकप्रियता आज तक बरकरार है जब कि इसका व्यवसाय पहले से कम हो गया है।

लखनऊ ब्लाक प्रिंटिंग उद्योग में कपड़े की छपाई लकड़ी के छापों द्वारा की जाती है। ये छापे शीशम की लकड़ी से बनते हैं और अक्सर एक अच्छी डिजाइन को उकेरने के लिए कई छापे इस्तेमाल किये जाते हैं। जो रंग इस प्रणाली में प्रयोग में आते हैं वे प्रायः रासायनिक होते हैं जिनका आधार कास्टिक सोडा होता है जो इन रंगों को पक्का करता है सबसे पहले बूटे की बाहरी रूप रेखा छापी जाती है उसके बाद उसमें अलग–अलग रंगों के अलग–अलग छापे अलग–अलग डिजाइनों को सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत करते हैं इस पूरी प्रक्रिया को दत्ताई कहते हैं। अच्छे नमूनों और खूबसूरत डिजाइनों के लिए अनेक ब्लाक लगाये जाते हैं।

पुराने समय से ये छपाई खादी, सिल्क, गल्ता (ऊपर रेशमी, नीचे सूती) मशरु (ताना सिल्क का, बाना सूती) आदि पर होती आ रही थी लेकिन अब इसमें साटन का प्रयोग भी होने लगा है। पहले लखनऊवा फर्द का इस्तेमाल केवल रजाइयों, पर्दो, दगलो, मिरजई और अंगरखों में होता था, लेकिन अब ये कारीगरी चादर पलंग, तकिया गिलाफ, कुशन कवर, मेजपोश, पर्दो, सोफा बैक, टी.वी. कवर, सलवार सूट, कमीजों, दुपटटों और साड़ियों आदि में भी होने लगा है। उस्ताद मुहम्मद हुसैन यहाँ के सर्वोत्तम डिजायनर रहे हैं। छपाई के मामले में गुरु राम नारायन, कमरूददीन खान साहब, जहूर खाँ,

अशरफ अली तथा गुरु प्रसाद जी विख्यात छीपी हुए हैं। उनके ही शार्गिद आज भी इस लखनवी आर्ट को जीवित रखे हुए हैं जिसकी धूम चारों तरफ है। मशकगंज का कारखाना उनमें से ही एक है।

इस विधा में पहले "रायक" (बाहरी रेखाकंन) छापा जाता है फिर अलग–अलग रंगो की दत्ताई होती है। इसमें अनेक ब्लाक प्रयोग में लाए जाते हैं पूरी छपाई के बाद कपड़ा हल्के गन्धक के तेज़ाब में डुबोया जाता है फिर गोमती के घाटों पर धोया जाता है।

लखनऊ में लकड़ी के छापों से कपड़ों पर छपाई का काम सदियों पुराना है जिसमें से 250 वर्ष का तो अनवरत इतिहास है। छीपियों के सैकड़ों परिवार इसी के सहारे अपनी जीविका चलाते रहे हैं यहाँ के थान लखनऊवा फर्द कहलाते हैं और जिनमें लिहाफ के खोल बहुत लोकप्रिय है। उनकी खुशनुमा रंगदारी, बूटेकारी उनकी विशिष्टता है जिनमें केहरी, बिच्छू, फूल, छेना पट्टी, बाजरा और जामेवार प्रसिद्ध है। पुरानी प्रसिद्ध आकर्षक नमूनों को आज भी उसी शान के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ–साथ समय को बदलाव के ध्यान में रखते हुए नई डिजाइनों का विकास भी हो रहा है। नए मशीनी दौर ने इस दस्तकारी उद्योग को बहुत ठेस पहुँचाई है, लेकिन चौक के श्री इन्द्र भूषण जी ने पूरे प्राणपण से इस कलात्मक हस्त कौशल को फिर से जिन्दगी दी। उन्होंने लखनऊ की इस कलात्मक कारीगरी को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचाने का प्रयास किया है।

□□

अवध शैली की चित्रकला

लखनऊ की शाही इमारतों के बादामी कंगूरे जब शाम की गुलाबी धूप में नहाते हैं तो एक तस्वीर अपने आप तैयार होती है। बहुत दिनों तक इस बात पर बहस बराबर जारी रही कि अवध स्कूल आफ पेन्टिंग कुछ है या नहीं लेकिन अब इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि चित्रकला के संदर्भ में अवध शैली के तमाम प्रमाण बिखरे पड़े हैं जो एक़ जगह न होने के कारण किसी के ध्यान में नहीं आये।

अवध शैली की चित्रकला में सबसे बड़ा प्रभाव हिन्दू मुस्लिम सद्भावना से प्रेरित है। अवध सन् 1720 में नवाबों की निगरानी में आया उससे पहले यहाँ वैष्णव परम्परा की चित्रकारी का अत्यधिक प्रभाव था। अयोध्या भगवान राम का जन्म स्थल है ओर राम चरित मानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास का क्षेत्र अवध है इसलिए रामावतार की लीला के प्रकरण यहाँ मंदिरों की दीवारों और रियासती शिवालो के अन्दर बड़ी तादाद में मिलते हैं। बैसवारा क्षेत्र के कान्यकुब्ज घरानों में दीवाली, भित्ति चित्राकंन में राम कृष्ण शिव दुर्गा तथा अन्य देवी देवताओं का सुरूचिपूर्ण बारीक. चित्राकंन मिलता है जो लोक शैली से उठकर कलमी चित्रकारी के बहुत करीब है। जूत (कोहबर) और करवा चौथ के गौरीबाग में भी उसी शैली के मानव चित्र बनते हैं जिनका चेहरा पार्श्व से ही दिखाया जाता है।

अवध में प्रथम नवाब सआदत खाँ बरहानुल मुल्क के शासनकाल में सन् 1725 की एक पेन्टिंग प्राप्त है जिसके बनाने वाले का नाम नहीं मिलता। इस तरह की अनेक कलाकृतियाँ इंडिया आफिस लाइब्रेरी लंदन में सुरक्षित है जो लखनऊ के ब्रिटिश रेजीडेन्ट रिचर्ड जानसन द्वारा यहाँ से ले जायी गयी।

यह सच है कि लखनऊ में नवाबी दौर के प्रारम्भिक चित्रकार

दिल्ली से स्थानान्तरित हो कर आये थे क्यों कि उन तस्वीरों में मुगल स्टाइल का अच्छा असर नज़र आता है। लखनऊ म्यूजियम में नवाब सफदरजंग के शासनकाल का बना हुई राजा नवलराय का चित्र इस बात को सिद्ध करता है। उसी दौर के मीर कल्लन खान की पेंटिंग्स में मुग़ल और यूरोपियन दोनों शैली प्राप्त होती है इस संदर्भ में कोपेनहेगन में रखी हुई सन् 1775 की कृति "प्रेमी–प्रेमिका गायिका से संगीत सुनते हुए" उल्लेखनीय है। यहाँ यह कहने में मुझे कोई दुविधा नहीं है कि मुग़ल शैली में बना हुआ मीर कल्लन खान का चित्र "योगनी रात के वक्त, वन में संगीत सुनते हुये" अवध चित्रकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है जो सम्राट जहाँगीर के शासनकाल की चित्रकारी का समकक्ष है। मीर कल्लन खान का कार्य क्षेत्र फैजाबाद और लखनऊ दोनों रहा है उनका ही एक चित्र "फरंगी बादशाह जादी" जिसके साथ दो कनीजें खड़ी हैं एकदम विदेशी स्टाइल में बना है। फैजाबाद में ही बनाया गया उनका बहुचर्चित कृति "फरहाद की मौत" बहुत प्रसिद्ध है जिसमें भारतीय वातावरण का नैसर्गिक चित्रण है तो विदेशी वास्तुकला का महल बना हुआ है।

नवाब शुजाउददौला के समय में फ्राँसीसी सेनापति जोसेफ जेन्टिल के द्वारा ब्रिटिश चित्रकार टिल्ली केटिल को कलकत्ता से फ़ैजाबाद बुलाया गया था जिसने छह विशाल तैल चित्र बनाये थे जिसमें का एक नमूना स्टेट म्यूज़ियम लखनऊ के पास है। नवाब शुजाउददौला अपने दस बेटों के साथ महल में खड़े हैं और उसी चित्र में एक किनारे आँखों पर चश्मा पहने टिल्ली कैटिल पेन्टिंग बना रहा है। उसी दौर के आक़िल खां के एक चित्र में नवाब शुजाउददौला संगीत सुनते दिखाये गये हैं। टिल्ली कैटिल की नकल पर ही फैजाबाद के चित्रकार नवासी लाल ने अवध की होली (फैजाबाद) का बेहतरीन चित्र तैयार किया। उनके सहयोगी मोहन सिंह भी थे जिनकी कृतियाँ अलबर्ट म्यूजियम लन्दन में मिलती है। कलाकार

मिहिरचन्द ने धनुषबाण सहित शुजाउददौला का एक चित्र बनाया था जो इंडिया आफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। "तस्वीरे ख्याल" उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। मिहिर चन्द और फतेहचन्द का सम्मिलित रूप से बनाया हुआ सुप्रसिद्ध चित्र "गजेन्द्र मोक्ष" अपने आप में अद्वितीय है। उस जमाने में फैजाबाद के इन नामी चित्रकारों के साथ पटकचन्द, राजा आनन्द देव, राजा ध्रुवदेव और राम सहाय का नाम लिया जा सकता है। राम सहाय जी की "राग माला" पेन्टिंग प्रसिद्ध है।

नवाब आसफुददौला ने अपनी राजधानी लखनऊ को बनाया तो उनके शासन काल में मिहिरचन्द के समकालीन बहादुर सिंह भी लखनऊ आये। नवाब के दरबारी चित्रकारों में मूलचन्द्र (राग मालकौंस का चित्रण और फुलवारी में स्त्री) मिस्किन (मिर्जा शाह रूख का चित्र) उत्तम चन्द लखनऊ (पूजा के लिए जाती हुई युवती) मुहम्मद अफ़जल (रजा बहादुर का चित्र) जगन्नाथ (बहादुर खान का चित्र) गुलाम रज़ा (कामदेव का चित्र) शीतल दास (इलाहाबाद के सूबेदार अमीरख़ान का चित्र) सुप्रसिद्ध थे।

नवाब के अनन्य मित्र और प्रतिष्ठित दरबारी क्लाड मार्टिन ने सन् 1784 में ब्रिटिश पेन्टर जान जोफ़ेनो को लखनऊ में बुलाया जिसने कई बेहतरीन चित्र तैयार किये। नवाब आसफुददौला तथा जनरल क्लाड मार्टिन के भी चित्र बनाये। 'कर्नल मोरडांट की मुर्गबाजी' उनका प्रसिद्ध विशाल चित्र है जिसमें नवाब को बादशाह बाग की बारादरी में अपने फिरंगी दोस्त के साथ मुर्गबाजी करते हुये दिखाया गया है। जार्ज बीची भी चित्रकला के नाते अवध दरबार में शामिल हुए थे। मुसाफिर मुहम्मद आज़म ने बादशाह ग़ाज़ी उद्दीन हैदर और बादशाह नसीरुदीन हेदर के चित्र बनाए।

लखनऊ के उसी दौर के अनेक चित्र स्टेट म्युजियम की गैलरी में लगे हुये हैं। इनमें विशुद्ध भारतीय शैली के चित्र हैं जिसमें नवाब

की सवारी का जुलूस है। नवाब के मंत्री राजा टिकैत राय और हसन रजा खान भी हैं। धनियां महरी का चित्र और अवध की बेगमों के पेन्टिंगस भीउल्लेखनीय है। दो मनमोहिनी महबूबा के पेन्टिंग्स तो अवध शैली की शान ही नहीं पहचान बने हुए है जिनमें से एक सुप्रसिद्ध चित्र इस पुस्तक पर भी है।

अवध स्कूल की ग्लास पेंन्टिग्स में मशहूर सूफियों और कलन्दरों के कीमती चित्र भी मिलते है जेसे हज़रत ग़ौस–ए–आज़म, पीराने पीर, गुलाम दस्तगीर, शाह मुइनुद्दीन चिश्ती अजमेरी, बख्तयार काकी, शाहफ़रीद, निजामुउद्दीन औलिया देहलवी, अमीर खुसरो, शम्स तबरेज़, मौलाना रूमी वग़ैरह। इनके रचनाकार तुग़रे मुरक्के भी बनाते थे एक चित्र में अर्ज़ किया गया है –

नज़र करने के लिए, लाया है आसी तुग़रा

नज़र हुजूर की मुझ पर भी हो इनायत की,

आपका ख़ादिम 'नूरबख्श मुसव्विर 'जूही''।

बादशाह गाजीउददीन हैदर से लेकर जाने आलम के जमाने तक की जो पेटिंटिग्स तैयार की गयीं उनमें यूरोपिपयन शैली का विशेष अनुकरण है। शाहनजफ लखनऊ में लगे हुए दो खूबसूरत चित्र और स्टेट म्युजियम में रखे हुए दो नाज़नीनो की पेन्टिंग्स उसकी मिसाल है। वाजिद अली शाह के दौर के चित्रों में कैसरबाग के रास रहस तथा परीखाने का दृश्यांकन अधिक है। रासलीला और चीर हरण लीला के दृश्य हिन्दू शैली के नमूने हैं। तत्कालीन अवध दरबार के अच्छे चित्रकारों में गजराज सिंह, आसफ़ अली के नाम लिये जा सकते हैं। नवाब के कलकत्ता चले जाने के बाद चित्रकार मुहम्मद जान उर्फ मुम्मू जान भी लखनऊ से गए जिन्होंने मटियाबुर्ज में रह कर चित्र बनाये। जुलाई 1892 में दिलकुशा छावनी लखनऊ के एक ब्रिटिश अधिकारी आर.ए. मेस ने मुम्मू के कुछ चित्र मँगाये थे। अवध के सारे नवाबों के जो आदमकद चित्र हुसैनाबाद लखनऊ की

पिक्चर गैलरी में लगे हैं वो भी कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं और उसी तरह हैदराबाद के सालारजंग म्युजियम में रखे नवाबों के रंगीन वक्षीय चित्र भी बहुत खूबसूरत हैं। ये सभी चित्र नवाबी के बाद के चित्रकारों की कृति हैं जिन्होंने अवध स्कूल आफ इण्डियन पेन्टिंग्स का मरतबा और बढ़ाया। लखनऊ के अन्य कुशल चित्रकारों में मुहम्मद अली, मानी राकिम, बेचू बेग, साहिब राय और काज़िम हुसैन खां का काम भी उल्लेखनीय है। हजरतगंज लखनऊ में मेसर्स एम. एल. भार्गव के निजी संग्रहालय में कम्पनी स्कूल के नवाबों के नायाब चित्र है। इसी तरह और भी व्यक्तिगत संग्रहों से चित्र मिलते रहते है।

ब्रिटिश शासन काल के चित्रकारों में चौपटियां निवासी लाल बहादुर, मुसव्विर लखनवी भी उल्लेखनीय हैं जो राजा दुर्गा प्रसाद साहब बहादुर ताल्लुकेदार संडीला की सरकार में मुलाज़िम थे। उन्होंने काली क़लम के रेखीय चित्र बहुत अधिक संख्या में बनाए "गुलिस्ताने हिन्द" की जिल्द में दिल्ली सल्तनत काल, मुगल काल के बादशाहों के अलावा छत्रपति शिवाजी, सिन्धिया के अनेक चित्र हैं। उत्तर भारत की अनेक शाही इमारतों के अतिरिक्त हिन्दू विषय भी अनेक हैं जिनमें क्षीर सागर में शेषशायी नारायण, पाण्डवों की सभा, द्रौपदी स्वयंवर आदि दर्शनीय है। अवध के ताल्लुकेदारों के चित्र भी उन्होंने बनाये और उन सभी में जो कुछ लिखा है उर्दू में लिखा है। इसी तरह पेंसिल आर्ट के कारीगरों में काशी राम, मीर मुहम्मद अली और ठाकुरदास मशहूर थे। सन् 2002 के लखनऊ महोत्सव की चित्र कला प्रदर्शनी "गुजिश्ता लखनऊ तस्वीरों के आईने में" इन चित्रों की शानदार झाँकी ललित कला अकादमी की लाल बारादरी में लगायी गयी जिसने सब के सामने अवध के पेन्टिंग स्कूल को बाक़ायदा प्रमाणित कर दिया। आज भी यहां मिनिएचर पेन्टिग में श्री अरुण अग्रवाल जी अवध स्कूल की ख्याति बढ़ा रहे है। लखनऊ के सुप्रसिद्ध कला महाविद्यालय के सन्दर्भ से लखनऊ को श्री असित कुमार हलदार, ललित मोहन सेन, मदन लाल नागर,

पद्मश्री आर.एस. बिष्ट, श्री योगीन्द्र वर्मा योगी, ईश्वर दास, सनत कुमार चटर्जी, मुहम्मद असग़री, सुधीर ख़ास्तगीर, फ्रेंक वेसली, आर. सी. साथी जैसे सिद्ध हस्त चित्रकार मिले। उसी विद्यालय में मूर्तिकला के दिग्गज शिल्पी श्री एच.राय चौधरी, श्रीधर महापात्र और अवतार सिंह पवार हुए। आज भी चित्र कर्म के सन्दर्भ में श्री घनश्याम रंजन, शेफ़ाली भटनागर, सतीश चन्द्र, भैरों नाथ शुक्ल, असद अली, उमेश कुमार सक्सेना, धर्मेश सिंह (शिल्प), नीता कुमार और 'अवधेश मिश्र सुप्रसिद्ध हैं।

ग्राफ़िक्स में श्री मुनि सिंह, श्री जयकृष्ण अग्रवाल, इन्दु रस्तोगी आदि उल्लेखनीय हैं।

जिस लखनऊ में रंगों की दुनिया में इस कदर बारीक़ी बरती जाती रही हो वहां रंगदारी या चित्रकला का कोई घराना न हो ये कैसे मुमकिन है।

दोशे नाज़ुक़ पर दुपट्टा, इस क़दर रुकता न था

कल जो रंगने में, ज़रा गहरा गुलाबी हो गया।

ज़ाहिर है कि रंग का ये वज़न सिर्फ लखनऊ के पास मिलेगा और दुनिया में कहीं नही।

□□

पतंग बाज़ी–मुर्गबाज़ी

दीपक की लौ के आसपास उड़ने वाला पतंग साहित्य की दुनिया में एक पागल प्रेमी की भूमिका रखता रहा है, लेकिन यहीं पतंग आस्मान पर पहुँच कर कभी दिलबहलाव का सामान तो कभी खेल की बाज़ी बन गई।

भारत के प्रथम राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने आदमी की ज़बान का शिकार बनने वाले तमाम जीव–जन्तुओं की पैरवी करते हुए मांसाहारियो के लिए एक छंद में पहले पतंग को ही याद किया है।

केवल पतंग विहंगमों में, जलचरों में नाव ही
और चौपायों में केवल, चारपाई बच रही

कहा जाता है कि पतंग जो कि एक हजार बरस पहले से चीन में मन बहलाव का साधन रही है धीरे–धीरे हिन्दुस्तान पहुंची लेकिन कुछ विद्वानों का मानना है कि भारत में आकाशदीप परम्परा से पतंग का जन्म हुआ है। मध्य काल के कवियों ने तरह–तरह से पतंग की बात कविताओं में कही है, लेकिन तब तक पतंग को ये नाम नहीं मिला था। इसे "गुडी" या "चंग" के नाम से जाना जाता था।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने नीति के एक दोहे में पतंग को उपमान बनाया है।

नीच गुडी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास
ढीलि दिएं गिरि परत महि, खैचंत चढ़त आकास

रीति काल में महाकवि बिहारी ने प्रेम प्रसंग में पतंग का प्रयोग किया है।

कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ
उड़ी जात कितहुं गुडी, तउ उड़ायक हाथ

दिल्ली की "चंग" शाहआलम के समय में लखनऊ आकर

पतंग बन गई। लेकिन यह सच है कि पतंग को, नाम के साथ–साथ इसके नये आकार तक पहुंचाने और इसकों शानों शौकत का रूतबा देने का काम लखनऊ के हाथों हुआ है।

जो पतंगे तुक्कल, गड्डी, आदम, मक्कड़, नानवी और अजदहा की सूरत में थीं वो लखनऊ आकर पौनतावा, कनकव्वा ही नहीं बनीं और भी तमाम रूप रंगों में निखर उठीं–

मांझे पर तितली है सवार, उड़ चली–तौखिया गेंददार
चप, करौंदिया या मांगदार, दे रही चांदतारा बहार।

आजकल की अच्छी तथा सस्ती मद्दी पतंगों के नाम हैं, तावा, ढाया, तीन, चार, पौनताई बनचों और पैसुल्वी।

नवाब आसफुद्दौला के शासन काल में पतंग की परवरिश खूब हुई। नवाब के मामूजान सालार जंग के परिवार के मुहम्मद हुसैन खान और आगा अबूतुराब खान नई पतंग की आबरू संवारतें रहे।

नवाब आसफुद्दौला अपने शीशमहल की छत से पतंग उड़ाया करते थे लेकिन पतंग लड़ाने का सिलसिला सन् 1800 से नवाब सआदत अली खां के अहद से शुरू हुआ और फिर धीरे–धीरे तमाम खेलों और बाजियों में पतंगबाजी का सिक्का कायम हो गया यहां तक कि लखनऊ पतंगबाजी का गढ़ बन गया। उस युग में एक कनकव्वे से नौ पेंच काटने वाले को "नौशेखां" की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

बादशाह अमजद अली शाह के दौंरे हुकूमत में मुर्शिदाबादी बांस मंगा कर पतंग के ठड्डे और धनुष बनाये जाने लगे। मीर अम्दू, ख्वाजा मिट्ठन और शैखइमदाद इस जमाने के जबरदस्त पतंगबाज हुए हैं।

जाने आलम के समय में तो पतंग अपने पूरे शबाब पर पहुंच गई। यहां तक कि पतंग साज़ी लखनऊ का एक उद्योग बन गया। रंगीन कागज की खुबसूरत पतंगें बनायी जाने लगीं और सद्दी और

मांझे की डोर सूती जाने लगी। अवध की औरतें बच्चों से एक पहेली पूछती है।

एक कहानी मैं कहूँ, सुन ले मेरे पूत
बिना परों वो उड़ गई, बांध गले में सूत।

ओर इसके जवाब में पतंग ही सामने आती है। मांझे, रील और तार का काम होने लगा जिन पर कांच की किरचें और अण्डे की ज़र्दी चढ़ायी जाने लगी। नवाब वाजिद अली शाह चौक में मछली वाली बारादरी की छत से पेंच लड़ाया करते थे।

नवाबी की पतंगें दुल्हन की तरह सजी सजायी होती थी जिनमें अक्सर सोने चांदी के सच्चे तारों की झलझली बंधी रहती थी जिसकी कीमत उस जमाने में पांच रुपये होती थी। ये पतंगे जिसकी छत पर कट कर गिरती थीं उसके घर उस दिन पुलाव पकता था। यही नहीं प्रेमी लोग पतंगों पर ख़त लिखकर अपनी अपनी प्रियतमाओं के घर तक पहुंचा दिया करते थे।

सन् 1857 में लखनऊ रेजीडेंसी के ब्रिटिश अधिकारियों ने एक पतंग के द्वारा अपना गुप्त संदेश क़िला मच्छी भवन तक पहुंचाने में सफलता पायी थी। जिसके आधार पर मच्छी भवन को बारूद से उड़ा दिया गया।

इसी तरह ब्रिटिश शासन काल में जब साइमन कमीशन लखनऊ आया तो उसकी बैठक कैसरबाग में तोप वाली कोठी के पास हुई। उस समय लाख पाबदिन्यों के बावजूद स्वतंत्रता सेनानियों ने गोलागंज से काली पतंगों पर "साइमन गो बैक" का नारा लिखकर ऐन मौके पर ढहाकर पहुंचा दिया था। अंग्रेजी दौर में उस्ताद विलायत अली नाम के एक जबरदस्त पतंग बाज़ हुए जो विलायती के नाम से जाने जाते थे।

लखनऊ में दीवाली के दूसरे दिन होने वाला जमघट त्योहार पतंग के त्यौहार के रूप में मनाया जाता है इस दिन पतंगों से

लखनऊ का आसमान एक खुशरंग गलीचा बन जाता है। सभी धर्म और वर्ग के लोग समान दिलचस्पी के साथ पतंगें उड़ाते हैं, बदे लड़ाते हैं और बाजियां लगाते हैं। सद्भावना की ये भूमिका पतंग ने अच्छी तरह निभायी है। राजस्थान और गुजरात में मकर सक्रान्ति ही पतंग उड़ाने का पर्व है। जिस तरह लाहौर में बसन्त के दिन पतंग उड़ायी जाती है।

पतंग के टूर्नामेंट लखनऊ में तो इतने लोकप्रिय होते रहे हैं कि यहां गोमती के किनारे का पतंग का मैदान मशहूर हो गया। ये पार्क दरियावाली मस्जिद के सामने बुद्ध विहार के करीब है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के यहां के जो मशहूर पतंगबाज़ हुए हैं उनके नाम हैं– लाला रामदास, डा. प्रेम बहादुर, इलियास, उस्ताद नज़ीर साहब और जानी साहब।

लखनऊ में पतंग आज भी एक अच्छा खासा उद्योग हैं। ख़ास लखनऊ में पतंगों के बड़े–बड़े गोदाम और दुकाने हैं। ये पतंगें घरों में बैठी परदानशीन औरतें सैकड़ों के भाव में बनाती हैं, जबकि कांप ठड्डें, सद्दी और मांझा मर्द ही बनाते हैं। कांप और ठड्डे के लिए सुन्देरबन के बांसों की कटी तीलियां कलकत्ते से आती हैं। चर्खी बनाने में भी लखनऊ वाले कहीं पीछे नहीं हैं, इनकी चर्खियां अपनी सजधज के कारण दूर से पहचान ली जाती हैं। इनका निर्माण आम और शीशम की लकड़ी तथा बांस की शहतीरों से होता है।

लखनऊ में तकिया कुतुब आज़म (वजीरबाग के पास) बावरची टोला (मेडिकल कालेज के निकट) और डालीगंज में डोर सूतने वाले अड्डे पर अपना काम करते हुए आज भी मिल जाएंगे। सादी रील पर कांच का सुरमा, चावल का मांड, अण्डे की सफेदी और अरारोट पहना कर धार तैयार की जाती है, मांझा बनाया जाता है।

पतंग ने फिल्मी दुनिया को भी अपनी उड़ान में बहुत पहले ले लिया है। फिल्म "दिल्लगी" में सुरैया और सखियों का प्रसिद्ध गीत :–

मेरी प्यारी पतंग, चली बादल के संग

जरा धीरे–धीरे, ज़रा हौलेहौले

जनानी पतंगबाजी का अच्छा मंजर लिए हुए था इस गीत में "वो काटा वो काटा" का जो मुहावरा इस्तेमाल किया गया है। पतंग बाजों का मशहूर मुहावरा है। इसी तरह ए.वी.एम. की फिल्म् 'भाभी' में लता–रफी का प्रसिद्ध युगल गीत है–

चली चली रे पतंग, मेरी चली रे

चली बादलों के पार, होके डोर पे सवार

सारी दुनिया ये देख देख जली रे।

चरित्र अभनेता ओम प्रकाश की फिल्म् "पतंग" तो पतंग को ही जीवन के उतार चढ़ाव का प्रतीक मान कर बनायी गयी थीं। लखनऊ में सिर्फ पुरुषों ने ही पतंगबाजी में नाम पैदा किया हो ऐसा भी नहीं है लखनऊ की तवायफों ने भी कम पतंगबाजी नहीं की है। इस सिलसिले में नक्खास की मशहूर पतंगबाज "जली खुर्शीद" को कभी नहीं भुलाया जा सकता। जली खुरर्शीद बहुत लम्बे पेंच लड़ाती थीं। चौक बजाजा में अफजल महल की लाल इमारत आज भी उनकी पतंगबाजी के शौक का दिलकश गवाह है। जली खुरशीद सायकिल चलाने, घोड़ा दौड़ाने और पतंग उड़ाने में अपना जवाब नहीं रखती थीं। अपने इन्हीं करतवों से वो आज तक लखनऊ में याद की जाती हैं। बाद में उन्होंने शादी कर ली और वो कुबरा बेगम कही जाने लगी।

मुर्गबाज़ी

एक ही नस्ल के दो जानवरों को आपस में बराबरी से लड़ते हुए देखने का शौक पुराने बादशाहों में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था लखनऊ के नवाबों ने इस तरह के शौक में नई–नई नफासते ओर ईजादें जोड़ कर उसे एक अलग, अदा बख्श दी जैसे जानवरों

की जगह परिन्दों की कुश्ती कराना और फिर उन पर बाजियां लगाना। यहाँ तक की कालान्तर में मुर्गबाज़ी, तीतरबाज़ी, बटेरबाज़ी और कबूतरबाज़ी लखनऊ की पहचान बन गयी।

नवाबों के दस्तख्वान के लिये बहुत सी चिड़ियाँ पाल कर रखी जाती थीं कहा जाता है कि उन चिड़ियों की सेहत ठीक ठाक रखने के लिये बावर्ची इन्हें चोरी छिपे आपस में लड़ाया करते थे। ये जिक्र जब दरबारों में पहुँचा तो उन्होंने इसमें खूब दिलचस्पी ली और ये तमाशा नवाबों का शौक बन गया। एक विचार यह भी है कि जब नवाब लोग विलासी होने के कारण अपना वीरत्व खो चुके थे और उनमें युद्ध कौशल नहीं रह गया था तब वो चिड़ियों का युद्ध करवा कर अपने मन को तृप्त कर लेते थे।

नवाबी काल में जोफ़नो नाम का एक प्रसिद्ध विदेशी चित्रकार हुआ है। उसकी पेन्टिग "कर्नल मोरडाँट की मुर्गबाजी" अपने विषय तथा प्रस्तुतीकरण के लिए संसार प्रसिद्ध है। इस दृश्य में कर्नल मोरडाँट नवाब के साथ बादशाह बाग की बारादरी में मुर्ग लड़ा रहा है नवाब वाजिद अली शाह के बाद मुर्गबाज़ी का शौक लखनऊ के अमीरों और रईसों में चलता रहा और आज भी कुछ हद तक पाया जाता है।

लड़ाकू मुर्गों में असील मुर्ग बड़े जांबाज और दमदार होते हैं इन मुर्गों को अच्छी खुराक खिलायी जाती है और उनकी चोंच चाकू से तराश कर उन्हें तैयार किया जाता है। लखनऊ के नामी मुर्ग़बाज़ों में नूरबाड़ी के नवाब घसीटा, ड्योढ़ी आग़ामीर के नज़ीर अली खाँ और वजीरगंज के मुग़ल साहब का नाम लिया जा सकता है।

मुर्ग लड़ाते समय दोनों तरफ से दाँव लगाये जाते हैं और वो जब एक दूसरे पर टूट पड़ते हैं तो शाबाश–शाबाश, जियो जियो कह कर उन्हें उत्तेजित करते हैं। आज भी लखनऊ के ठाकुरगंज, नक्खास और सआदतगंज मुहल्लों में बड़े–बड़े मुर्ग़बाज रहते हैं।

□□

दस्तरख़ान/लबे माशूक

लखनऊ में मेहमान को इज्जत में कहा जाता है

"शुक्र कर मेहमान का ये अपने दिल में जानकर,

खा रहा है अपना खाना तेरे दस्तरखान पर"

और फिर कहावत है कि लखनऊ का नाम लेते है तो लबों की लज्जत कुछ और हो जाती है याद आने लगते हैं यहां के मशहूर पुलाव जैसे – नूरपुलाव, मोती पुलाव, चमेली पुलाव।

दरअसल पुरानी बातें अपने आप धीरे धीरे मिथक बनती जाती हैं। नवाबी दौर के लखनऊ के दस्तख्वानों पर लिखने वालों ने कुछ बाकी नहीं रखा है बहुत कुछ लिखा है लेकिन जो सबसे दिल आवेज पहलू उनका है, वो है वो मज़ेदार अद्भुत बातें या घटनायें जो नवाबों के दस्तरख्वान से जुड़ी हैं और पाठक उनमें ही शायद कोई जायका पा जाता हैं मशहूर है कि नवाब आसफुद्दौला के समय में दाल अशर्फी से छौंकी जाती थी। उसकी बघार से सोने की भस्म दाल को बहुत पौष्टिक बना देती थी।

इसी क्रम में याद आता है अवध के प्रथम बादशाह गाज़ीउद्दीन हैदर के प्रिय छह पराठों का जिक्र। जिनको बनाने में उनका बाबरची तीस सेर देसी घी खपाता था क्योंकि उसका ढंग ये था कि वो इस घी में से ही घी की रूह निकाल कर ये पराठे बनाता था और इन पराठों की ताकत कुछ और होती थी।

बादशाह नसीरूद्दीन हैदर द्वारा रेजीडेंसी के रेजीडेंट को कोठी फरहत बख्श में दी गई दावतों के ठाठ का कोई मुकाबला नहीं। पुलाव में गोश्त की चिड़ियां चावलों पर ऐसी बिठायी जाती थीं मानों वो सचमुच की हों और चावल चुग कर अभी उड़ जायेंगी लेकिन हुआ कुछ यूं कि ज़ो पहला तिकोना अंग्रेज बहादुर ने तोड़ा

तो उसमें से एक जिंदा चिड़िया निकलकर उड़ गयी थी और सारे अंग्रेज मेहमान और उनकी मेमें इस महारत पर बाग़ बाग़ हो गये थे।

दिल्ली खानदान के मिर्जा आस्मान कद्र द्वारा दिये गए एक डिनर में ये कमाल कायम किया गया था कि जितने चीनी के बरतन कटोरी, तश्तरी, चम्मच, लोटा, गिलास इस्तेमाल में थे वो सब चीनी से ही बने थे यानी शक्कर से निर्मित थे जो बाद में तोड़ कर खाए भी जा सकते थे क्योंकि मीठे और खुशबूदार थे। इसी तरह नवाब रोशनुद्दौला की भांजी कंगला महल की शादी में हरे भुट्टे के कच्चे लच्छे का रायता बनवाया गया था जिसकी लाजबाबी ऐतिहासिक पुस्तकों में मिलती है।

लखनऊ के दस्तरख़ान पर खाने के व्यंजनों में दो विशेषताएं शुरू से रही हैं, नफ़ासत और स्वादिष्टता। परम्परागत खानों के अलावा लखनऊ ने अपने तरीक़े से रूमाली रोटी और शीरमाल को तैयार किया हैं। दूध और मैदे की बनी बाक़रखानी रोटी को यहां के महमूद मियां ने शीरमाल की सूरत दी थी। आज भी महमूद के घराने के लोग अपनी साख रखने के लिए शीरमाल में एक नुचा हुआ कोना रखते हैं। जो कि उस घटना की पहचान है जब बादशाह नसीरुद्दीन हैदर ने तमाम नानबाइयों से रोटियां बनवायी थीं फिर महमूद के शीरमाल को एक ज़रा नोच कर चखा था और सब में अव्वल का सम्मान दिया था। शीरमाल के साथ कोरमे और कबाब का ज़ायका कुछ और हो जाता है इसी तरह परतदार पराठे भी यहां नवाबी काल से प्रसिद्ध रहे हैं। लखनऊ के नानबाइयों ने नान अफ़लातूनी रोटी ईजाद की थी और यहां नान जलेबी भी बनती थी।

कुलचा जो कि ईरान और अफगानिस्तान होता हुआ यहां आया था उसे भी लखनऊ ने अलग रौनक दी है यहां वो तिकोने आकार में मिलता है, जो नहारी के साथ खाया जाता है। लखनऊ की नहारी अपने खास मसालों और गोश्त की बोटियों से बनती है। पाये की नहारी यहां कम पसन्द की जाती हैं यहां के मुग़लई अन्दाज

के खानों में कोरमा और चपाती भी बहुत पसन्द किये जाते हैं। कोरमें में अच्छा गोश्त, खास मसाले और घी के तार रहते हैं जिनके साथ बादाम और बालाई का इस्तेमाल होता है। चपातियां नरम महीन और हल्की चित्तीदार बनती हैं। क़ीमा क़ोफ्ता और कबाब ऐसे अन्दाज में तैयार किये जाते हैं कि खाने का मजा दुगना हो जाता हैं कीमे सादे भी बनते हैं और दो प्याजे भी, लेकिन दो प्याजे को ज्यादा अहमियत प्राप्त हुई है। उनमें आलू भी प्रयोग में लाया जाता है और चने की दाल भी पड़ती हैं इनके लिये गरम मसाला कुछ खास नुस्खे से तैयार किया जाता हैं।

कबाब में शामी कवाब, सीक कवाब व गलावट के कवाब बाजार में आम तौर से तैयार मिलते हैं, लखनऊ ने कबाबों की दुनियां में बहुत नाम पैदा किया है यहां तक कि कुछ कवाबियों के नामों और उनके कमाल को सारे हिन्दुस्तान में जाना जाता है, जैसे टुण्डे के कबाब पराठे, सखावत के शामी कवाब और काकोरी के नरगिसी कवाब और सीकं कवाब। इन लोगों के इन सामिष व्यंजनों में स्वाद की विशेषता इसीलिये है क्योंकि वो लोग आज भी परम्परागत विधियों से खाना तैयार कर रहे हैं, और मसालों के पुराने नुस्खे इस्तेमाल कर रहे हैं वो लोग आज भी कलई दार ताबें की परातों और इमली के कोयलों का प्रयोग करते हैं। उनके कवाब मुंह में रखते ही घुल जाते हैं।

पुलाव की बिरयानी और फ़ीरीनी दोनों ही लखनऊ को अपनी पहचान देती हैं बिरयानी बनाने के लिये चावलों पर घी छिड़ककर गोश्त की तहें लगायी जाती है तब उसको हल्के हल्के दम दिया जाता हैं केसरिया रंग और खुशबू के लिये असली केसर डाला जाता है। इसी सिलसिले में यहां यख़नीदार पुलाव ईजाद किया गया है जिसमें गोश्त का जूस चावल के साथ इस्तेमाल होता हैं इस नफ़ासत का पुलाव लखनऊ वालों की ही देन है। इसके अलावा

पहले मज़ाफर (मीठे पुलाव) और मुतंजन (खट मिट्ठे पुलाव) भी बना करते थे।

लखनऊ के जनाब मिर्ज़ा हैदर साहब का आबदार खाना प्रसिद्ध रहा है जिसे भिन्डी ख़ाना (पाकशाला) भी कहा जाता था। ये जहां भी दावत में बुलाये जाते थे वहां हुक्के पानी का पूरा प्रबन्ध उनकी ही ओर से होता था।

लखनऊ के ताज रेज़ीडेंसी होटल, क्लार्क अवध होटल, कार्ल्टन होटल आदि में प्रायः लखनऊ की यह सभी नामी गिरामी डिशेज़ मिल जाती हैं इनके अलावा प्रेस क्लब के पास मुशताक़ की दुकान भी है जिस पर कवाब, बिरयानी के लिये, नज़ीराबाद में और मौलवीगंज में रहीम के यहां नहारी कुल्चे के लिए आज भी लोगों की भीड़ जमा रहती है। चौक में अकबरी दरवाजे के आस पास शाहगंज के करीब अब भी वही खाने, उसी अन्दाज में मिलते हैं।

अवध का परम्परागत व्यंजन होने के बावजूद तन्दूरी मुर्ग और फिश फ्राई नये समय के साथ बहुत लोकप्रिय होता जा रहा है। अवधी दस्तरखान पर जो मुर्ग मुसल्लम मेवों से भरा रहता था वो अब सिर्फ मसालों से ही बनाये जाते हैं। चारबाग के महाराजा का काली मिर्च का मुर्गा मशहूर है जब कि तन्दूरी मुर्ग प्रायः सभी होटलों में मिल जाता है। नवाबी लखनऊ के पुराने सामिष व्यंजनों में मुतंजन, शीरबरंज, मोती पुलाव, कुन्दनकलियां बगैरह अब केवल किताबों मे रह गये हैं जो कहीं देखने को भी नहीं मिलते हैं।

मेरे एक मित्र जो लखनऊ किसी काम से आये थे मुझसे पूछने लगे कि सुना है यहां कब्रिस्तान में कोई मिठाई की दुकान है, जिसका बड़ा नाम है "पहले तो मैं भी चकरा गया लेकिन बाद में मुझे समझने में देर नहीं लगी कि यह कब्र वाली दुकान की बात होगी जो श्रीराम रोड अमीनाबाद में है और अब जो मधुरिमा के नाम से विख्यात है।

लोग समझते हैं कि लखनऊ सिर्फ़ सामिष व्यंजनों के लिए ही

प्रसिद्ध है लेकिन ऐसा नहीं है। ये शहर मिठाइयों के लिए भी मशहूर हैं यहां के हिन्दू हलवाई पूरी कचौड़ी, खस्ते नमकीन और मिठाईयों पर अपना बेहतरीन हाथ दिखाते रहे हैं। जबकि मुस्लिम हलवाई शाही टोस्ट, बालूशाही, मीने के लड्डू (खोए और बूंदी से बने) शकर पारे और नान खटाई के माहिर थें।

नवाबी दौर में चौक के बहुत से हलवाई मशहूर हुए जिनमें किशोरी की मिठाईयों का और खैराती के नमकीन का नाम लिया जा सकता है। ब्रिटिश पीरियड में "राम आसरे" की मिठाईयां और "टीका राम" के नमकीन लाजबाब माने जाते थे। राम आसरे की मिठाइयों में नल के पानी का इस्तेमाल नहीं होता था क्योंकि नल की टोंटी के वाशर में चमड़ा लगा होता था, सारी मिठाई कुएं के स्वच्छ पानी से बनती थी तथा शक्कर के स्थान पर कच्ची शक्कर का इस्तेमाल होता था, क्योंकि शक्कर की सफ़ाई में हड्डी का प्रयोग होता है। इस तरह ये सभी मिठाइयां भगवान का भोग लगाने या व्रत में खाने के योग्य होती थीं।

लखनऊ के सोंधी टोले में ही बुग्गामल की गली में मद्धू जी वैद्य रहा करते थे जो बगैर दवा के सिर्फ़ खान पान की एहेतियात से रोग अच्छा कर लिया करते थे उनका उसूल था कि–

जहां तक काम चलता हो गिज़ा से

वहां तक चाहिए बचना, दवा से

जो हो महसूस मेदे में गरानी

तो पी ले सौंफ या अदरक का पानी

अगर हो खून कम, बलगम ज़ियादा

तो खा गाजर, चने, शलजम ज़ियादा

जिगर के बल पे है इन्सान जीता

अगर कमज़ोर हो तो, खा पपीता
थकन से हों जो हाथ और पैर ढीले
तो फौरन दूध गरमागरम पी ले
ज़ियादा हो दिमागी, गर तेरा काम
तो खाया कर शहद के साथ बादाम
जिगर में हो अगर गर्मी, दही खा
अगर आंतों में हो खुश्की तो, घी खा
जो दुखता हो गला नज़ले के मारे
तो कर नमकीन पानी के ग़रारे
जो बदहजमीं में तू चाहे इफ़ाका
तो दो एक वक्त का कर ले तू फाका।

उदाहरण के तौर पर वैद्य जी सर दर्द और चक्कर के लिए निहार मुंह दूध जलेबी खाने की सलाह देते थे तो खून की कमी होने पर मखाने की खीर खाने को कहते थे इसी तरह नारी का साग और मट्ठा अल्सर होने पर तथा मुनक्के का दूध कब्ज होने पर बताया करते थे।

मलाई की गिलौरी और मलाई मक्खन तो लखनऊ की अपनी चीज़ है। यह मक्खन मलाई जाड़ों का तोहफा हे जो काली जी मंदिर चौक के आसपास बनता हैं इस मिठाई की नर्मी नाज़ुकी और मिठास के लिहाज से नवाबों ने इसे "लबे माशूक" (प्रियतमा के अधर) नाम दिया था।

लबे माशूक बनाने वाले लखनऊ के अलावा दुनिया में कहीं और नहीं है। इस व्यंजन के बनाने का विशुद्ध देशी ओर परम्परागत तरीका है जो इसके कारीगरों ने किसी को नहीं मालूम होने दिया है।

लखनऊ के शौकीन मिजाज लोग जो कहीं बाहर जाकर बस गये हैं और किसी शादी ब्याह के मौके पर इस डिश को प्रस्तुत करना चाहते हैं तो उसे बनाने के लिए यह कारीगर लखनऊ से वहां तक जाते हैं।

बान वाली गली के राम आसरे के मलाई पान और आज़ादी की पहचान तिरंगी बरफी (केसर बादाम और पिस्ते की तह से बनी) एक जमाने से मशहूर रहे हैं। मलाई की गिलौरियों में खोया, मेवा मिश्री का प्रयोग होता है और चांदी के बरक से लपेट कर दी जाती है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद लखनऊ की इन मिठाइयों को राष्ट्रपति भवन में मंगवाते थे। मलाई गिलौरी लखनऊ की ही ईजाद है।

चौक में ही राजा की ठन्डाई लस्सी, गोल दरबाजे और राजा बाज़ार का कपूरकन्द और राधे लाल की दूधिया बरफी, काली गाजर का हलवा तथा राजभोग आज भी अपनी धूम मचाए हुए है। मेवे का दूध और आम की खीर उनके प्रमुख व्यंजन है। राजा बाज़ार के नमकीनों में साखें, दालमोठ, पालक, सोहाल, बैंगनी हरी, सेम के बीज और मठरी का चारों तरफ नाम है। वहीं त्रिवेदी की दूध की बरफ़ी लाजवाब होती है। नाके पर राधेकृष्ण और हीवेट रोड चौराहे पर यादव की लस्सी का कोई सानी नहीं है।

यहियागंज में टाटपट्टी की रबड़ी क्या है इसे जानने वाले जानते हैं पहले यहां दूध की पंजीरी और दूध की पूरियां भी बनती थीं। ऐशबाग फाटक पर बाबू लाल अपने खस्ते कचौड़ी दालमोठ और मुरब्बों के लिए आज भी माने जाते हैं।

रकाबगंज में शिव मिष्ठान भण्डार के जैसी दूध की बरफी बनाने वाला और कोई नहीं है। उनके ही यहां व्रत उपवास में मिलने वाली मलाई पूड़ी और मेवे की दालमोठ भी बेमिसाल होती है। अमीनाबाद में मधुरिमा (कब्र वाली दुकान) का मगदल, मीठे परवल और इमरती, नेतराम के यहां की जलेबी और पूडियां दूर दूर तक

मशहूर हैं। नये नामों में हुसैनगंज के त्रिपाठी की रसमलाई, चाणक्य के लड्डू पेड़े, रिट्ज के मोती चूर के लड्डू ओर छप्पन भोग का हलवा सोहन मिठाईवाला का चन्द्र भोग, बंगाली मिठाईयों में चारबाग कलकत्ता स्वीट हाउस के रसगुल्ले, खीरकदम और मीठा दही, बंगाल स्वीट हाउस (भानमती चौराहा) का सन्देस, चमचम अपनी मिसाल आप है। पिन्डी की 'छेने की मिठाइयों में चन्द्रमुखी, आगरे वाले का अंगूरी पेठा, मथुरा वाले की लाल घड़े की दुकान के भुने पेड़े और फतेहगंज के दीवाली पर बनने वाले मीठे महल और खिलौने प्रसिद्ध हैं।

लखनऊ वाले दूध–जलेबी, इमरती मलाई और नुक्ती दही का मेल मिला कर खाना खूब पसन्द करते हैं। सावन में अंदरसे की गोलियां खायेंगे तो भादों में उन्हें खोया पट्टी का शौक है यहां होली के बाद होने वाले मसानी के मेले में चांद पट्टी (लइया और शक्कर के पाग से बनी चन्द्रकार पट्टी) की धूम रहती है। जाड़ों में तिल – लइया और रामदाना के लड्डू चाहिये तो ताकत के लिए गोंद के पलंगतोड़ लड्डू खरीदते मिलेंगे। लेकिन मेले ठेलों में जो सबसे ज्यादा मकबूल मिठाई आप पायेंगे वो है सोहन पपड़ी जिसे बच्चे बहुत पसन्द करते हैं। इस उजली मिठाई को हम लोग बचपन में 'बुढ़िया का काता' कहते थे क्योंकि लखनऊ में इसका यही नाम था। इस नाजुक सी पपड़ी के लिए पुराने लखनऊ के मशहूर शायर दिलगीर ने कहा है–

वो पपड़ी जो फ़क़त होठों से टूटे

हों सौ टुकड़े, अगर हाथों से छूटे

महाराजा झाऊलाल के भाई छन्नू लाल दिलगीर 'जो बाद में मुसलमान हो गए थें नखास में विक्टोरिया स्ट्रीट पर चिड़िया बाज़ार के क़रीब गोंदनी के पेड़ के नीचे दफ़्न हैं।

□□

मेहमान और पान

लखनऊ की मेहमान नवाज़ी सारे जमाने में मशहूर है। लीजिए अपनी बात एक शेर के बहाने से कहता हूँ–

'लखनऊ वाले अलग जान लिए जाते हैं

गुलाब फूलों में पहचान लिए जाते है

तीर भी पड़ता है, तो दिल में छुपा लेते है

यहां सर आँखों पे मेहमान लिये जाते है'

इस मेहमान नवाज़ी की कहानी हमेशा अधूरी है अगर फिर सामने पान न आए। पान को शुभ शकुन मान कर ही अवध में कहा जाता है –

'रवि को पान, सोम को दर्पन

मंगल को गुड़ कीजे अर्पन

बुध को धनियां, बीफ़े राई

सूक कहे मोहे दही सुहाई

कहे सनीचर अदरक पाऊं

तीन लोक जीते घर आऊ'

अतिथि सत्कार में तो पान सुपारी का अपना अलग महत्व ही है। प्रेम तथा सर्वश्रेष्ठ सम्मान का प्रतीक होने के कारण ही सुहागरात में भी पति पत्नी के बीच पान का आदान प्रदान ज़रूरी समझा जाता है। इस तरह पान का धार्मिक, सामाजिक तथा पारिवारिक महत्व है। यही वजह है कि भारत के अतिरिक्त भारतीय कुल के अन्य देशों में भी पान का प्रचार है और इस तरह दुनिया की आबादी का लगभग दसवाँ हिस्सा आज पान ख़ाने में मशगूल है। उत्तर भारत के शहरों

में पान की दुकानें और उनका जलवा देखने के काबिल होता है।

मशहूर है कि अवध के अंतिम शासक जाने आलम अपनी प्रियतमा जाफ़री बेगम के उग़ालदान तक से रश्क (ईर्ष्या) करते थे। उन्होंने कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम में क़ैद हो जाने पर अपनी अलग–अलग बेगमों से अलग–अलग चीजों की फरमाइश की थी और खुद लिखा है–

"कहा जाफ़री से कि ऐ खुशजमाल

मुझे चाहिए तेरे मुँह का उगाल" (हुज्ने अख्तर से)

तो ये तो हुई प्रेम की पराकाष्ठा, हालांकि बादशाह की मुराद पूरी न हो सकी और इसके जवाब में उन्हें बेगम के हाथों की बनी हुई गिलौरियाँ ही भेजी गयी थीं।

पान लगाते वक्त उसके डंठल को तोड़ कर फेंक देने का रिवाज है क्यों कि पान की डंठल में एक प्रकार का विष होता है, अक्लमन्द उसके दोनों सिरे खोंट कर पान लगाते हैं। लखनऊ के नवाबी काल में पान के पत्तों की नसें उलटे हुए घड़े पर रखकर नहन्नी से छील देने का चलन था ताकि लखनऊ के नवाबों और उनकी धान पान सी बेगमों के नाजुक दहनों को किसी किस्म का सदमा न पहुँचे। पान पर पहले चूना लगाकर उस पर फिर कत्था चढ़ाते हैं और उसके बाद उस में सुपारी के टुकड़े रख कर जरूरत के मुताबिक और सामग्री डाली जाती है। प्रेम प्रसंगों में तो पानों की प्रधान भूमिका रहा करती थी।

जहाँ तक पान की भीतरी आराइश का सवाल है उसकी भी कोई इन्तहा नहीं है। तमाम मुश्की मसालों के अलावा उसमें तवानाई के नुस्खे भी इस्तेमाल करने का रिवाज रहा है। चाँदी सोने और मोतियों की भस्म डालकर गिलौरियों को लाजवाब बनाने की प्रथा रही है। इस सिलसिले में नवाब वाजिद अली शाह के ऐशो इशरती बीड़ों और फिर उसके असर के बारे में भला कौन नहीं जानता।

दक्षिण भारत में पान पर कत्थे का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं किया जाता है। पान में लगाया जाने वाला कत्था अक्सर गुलाब जल में घोला जाता है या फिर केवड़े के फूलों की पंखड़ी पर सुखाया जाता है इसी तरह चूना भी दूध में भिगोने की प्रथा रही है। खुशबूदार बीड़ों को बाँध कर या तो उन पर लौंग टाँक दी जाती है या फिर चाँदी सोने के वरक़ उन पर लपेट देने का चलन रहा है। पान का असली बीड़ा वही है जो पानी में छोड़ देने पर भी न खुले और मुंह में पहुँच कर ही खुले।

तुम्हारे पान खाने से, खुदा की शान जाती है

तुम्हारे होंठ जलते हैं हमारी जान जाती है

पान को किसी के आगे पेश करते वक्त भी बड़े–बड़े रस्मो आदाब निभाये जाते हैं। नमूने के तौर पर अकेला पान देना इज्जत की बात नहीं समझी जाती, अवध में इसे बहुत बुरा मानते हैं और कहते है–

एक गिलौरी हाथ न ले,

मुरहा लौंडा साथ न ले

पान हमेशा दायें हाथ से ही दिया जाता है बायें हाथ से कभी नहीं। उम्र के छोटे लोग बड़ों को पान देकर सलाम करते हैं तो बड़ों के हाथ से पान लेकर भी उन्हें सलाम करते हैं। महफ़िल में पान पेश करते वक्त पान की तश्तरी को हर एक के सामने से घुमाया जाना जरूरी होता है यहाँ तक कि कहावत मशहूर हो गयी "मान का पान बड़ा होता है।" अकसर रूपहली जंजीरों में बिंधी हुई गिलौरियाँ मेहमान के इस्तक़बाल में लाई जाती हैं या कभी–कभी कागज की कुल्फियों में गिलौरियाँ रख कर दी जाती हैं।

पान लगाने की कला नवाबी दौर में अपने चरम सीमा पर पहुँच गयी थी और इस काम को अंजाम देती थीं "नागरवालियाँ" पानदान

के बिना तो अवध की किसी बेगम की कल्पना ही नहीं है। पानदान का खर्च, दस्तरखान के खर्च से बढ़–चढ़ कर हुआ करता था जिसे पूरा करने में शाही खज़ानों का कलेजा निकल जाता था।

समझ चुका हूँ कि एक दिन, करेगा कत्ल वही

गिलौरी पान की दी, जिसने मुस्करा के मुझे

पान के सम सामाजिक व्यवहार की इससे बढ़कर मिसाल और क्या होगी कि मंदिरों के अनुष्ठानों से लेकर तवायफों के कोठों तक उसका चलन रहा है और इसमें कोई शक नहीं कि पान का सबसे दिलचस्प घराना वही है। वेश्याओं के पानदान की गिलौरियों के मोल का तो कहना ही क्या उनके आदान प्रदान के अन्दाज कुछ ऐसे निराले हुए कि उन पर दादरे गाए जाने लगे "पान वाली लगा दे रसीला सा पान" या फिर शेर कहे जाने लगे जैसे–

"पान कहता है कि मैं, सूख के मर जाऊंगा

ऐ लबे यार अगर, तूने न चूमा मुझको"

□□

लखनऊ के फेरी वाले

एक पुराने प्रसिद्ध फ़िल्मी गीत में प्रेमी अपनी प्रमिका को लुभाने के लिए लखनऊ का लासा लगाता था और यह गीत गाता था "लखनऊ चलो मेरी रानी–बम्बई का बिगड़ा पानी"। उसी तरह अमीनाबाद लखनऊ में कभी एक अन्धा फकीर हुस्ने यूसुफ मंजन गा–गा कर बेचता था। आदित्य भवन में रहने वाले प्रसिद्ध उपन्यासकार लेखक प्रेमचन्द जी उसकी ये धुन खूब पसन्द करते थे, ये बात सन् 1930 की है। इसी तरह तीन दशक पहले हरे रंग का बहुत बड़ा बैनर लेकर जिसमें आखों की खूब नुमाइश होती थी। सुरमे वालें पूरे साजबाज के साथ ताने लगा–लगा के गाते चलते थे,

सलामत रखना आँखें, जिनसे दुनिया की नुमाइश है,
लगा लो अपनी आँखों में–ये बम्बू शाह का सुरमा।
न लगता है, न जलता है, करे आँखों को ये ठण्डा,
अजब तासीर लाता है– ये बम्बूशाह का सुरमा।

लखनऊ जहाँ और बहुत सी चीजों में अपना जवाब नहीं रखता, फेरी वालों की बोल बानगी में भी कुछ अपनी पहचान रखता है। बना–बना के बात कहना तो यहाँ की सदियों पुरानी विशेषता है। मिसाल के तौर पर लखनऊ की रेवड़ियां दूर–दूर तक मशहूर है। केवड़े, गुलाब की मोहिनी महक अपने सीने में समेटे, ये रेवड़ियां आज भी लखनऊ के चारबाग स्टेशन पर सबसे पहले नज़र में आती है और फेरीवाले गुलाब रेवड़ी गुलाब, कह कहकर आपके करीब से गुज़रते है। हिन्दी की पहली कहानी "रानी केतकी की क़हानी" लिखने वाले लखनऊ के प्रसिद्ध शायर "इंशा ने बहुत पहले ही इन रेवड़ियों को खाने का सुख इस तरह से बयान किया था।

सारी कुसमी ओढ़ के, जहलिया बहलिया न जाऊं
संकरा दोना गांठ के, घर बैठे रेवड़ी खाऊँ।

लखनऊ में इन रेवड़ियों को खुटिया भी कहा जाता है। यहाँ के पुराने लोग कहावत कहते थे–

लखनऊ शहर की खुटिया अच्छी

बाराबंकी की बिटिया अच्छी।

जब मान जलेबी, शीर, बरंज, गली–गली बिकने आते थे तो उस समय कौड़ी, गंडा, दमड़ी व पाई की करेंसी चलती थी। लोग उसमें भी छककर खा लेते थे। बीसवीं सदी की मध्यावधि तक सर पर टोकरी में गरम पतीला लिए फेरीवाले घूम–घूम कर बेचा करते थे, यह कह–कह कर–

सालन बक़रे, कलिया बक़रे

मन ललचौनी, जिया चुरौनी, तरकारी।

और कहना न होगा कि भरी दुपहरी में मुस्लिम घरों में ये बकरे का सालन बड़े शौक के साथ खरीदा और खाया जाता था। वैसे लखनऊ वाले अच्छे हाल का इजहार यूं ही करते थे।

मिज़ाज कुलकुलिया

दो चार रोटी, पाव भर क़लिया।

शायद तब तक यहां के मुसलमानों में आदमी की एक शानदार हैसियत यही समझी जाती थी।

एक समय था, जब पुराने लखनऊ में शरबत के ओले और सुराही की बरफ बिकती थी। जिनका ज़िक्र आदरणीय शिवानी जी ने अपनी रचनाओं में किया है। चौक की गलियों में अब तक बरफ़ वालों की ये प्रसिद्ध बन्दिश याद की जाती है –

तासीर है ठण्डक की, पानी के नगीने में

ये ओस के गुल रखिए, जलते हुए सीने में।

इस तरह छंद–बंद का जमाना तो चला गया लेकिन तब भी

यहाँ बरफ वाले यही कहते पाए गये–

ओला पियो बरफ़

ठण्ठी पियो बरफ, तर कलेजा तर बरफ।

छंद और पैरोडी का रंग तो ये रहा है कि अब से पचास साल पहले एक आने की कजरी बारामासे की किताबे गली–गली में बेचने वाले, लोगों का मन खींचने के लिए, फिल्म रतन, में करन दीवान के गाए एक प्रसिद्ध गाने की पैरोडी में लखनऊ की तारीफ़ पढ़ते चलते थे–

जब तुम्ही चलें लखनऊ, बगल में बहू

बगल में साला, नखरे में गरम मसाला।

मेले ठेले में गोटा–मसाला और पान के बीड़े बेचने वाले इस तरह लोगों का मन लुभाते थे–

सुर्खरू वो है गिलौरी पान की

आप की भी शान और महमान की

गर्मियों की बहार में अगर आम का नाम न आये तो फिर मज़ा ही क्या। वैसे आम अपनी सूरत और खुशबू से ही पुकारे जाते है, उनके लिए कुछ कहना उनकी तौहीन होती है, फिर भी पुराने मेवा फरोश लखनऊ के दशहरी आमों को नगीना कह कर बेचते थे और अक्सर कहते थे–

दुनिया बुरी, ये फिर भी अच्छे

लखनऊ वाले, नगीने सच्चे।

लालो लाल फर्रूखाबादी तरबूज वाले तो तरबूजों की बस्ती में खड़े होकर तरबूज के लिए पूरी की पूरी पहेली कहा करते थे।

बच्चों का टूंग–टांग,

बकरी का चारा

बीबी का हलवा

मियां का शरबत

रसदार तोहफों में गन्ना आगे–आगे है और गन्ने का मौसम होता है तो गन्ने वाले पुकारते थे–

मीठे–मीठे बांस, ऊँचे–ऊँचे

पतंगे चाहे लूट लो।

और गन्ने की छिली धुली गंडेरिया बेचने वाले गंडेरियों पर गुलाब के फूल, पंखुड़ियों को सजाकर गुलाब पाश रख कर आवाज़े लगाते–

गुलाब गंडेरियां, धेले की ढेरियाँ

चम्पे की कलियां, ये मिसरी की डलियाँ

गर्मियों के दूसरे मेवे बेचने वाले भी कहीं पीछे नहीं रहते थे–

'फालसे भी शरबत वाले'

'खिन्नी मेवे, बड़े फालसे।'

या

'झूमती डाल वाला मीठा शहतूत है'

'काली घटा के काले फरेंदे।'

कुछ इसी अदा से कन्दहारी अनार और पिटारी के अंगूर भी बेचे जाते थे। लखनऊ में सब्जी बचने वालों की बोलियां भी अपनी अलग–अलग ढंग की है। जैसे–

'पत्तों के दाम मूली इनाम',

'धन्नों मचल गई धेले में',

'सावन आया, घुइयां पूड़ी लाया',

'क्या कमरख है झांड़ फ़ानूस',

'छोटी टहनी बड़ा चना',

'ऐ, तोतों ने पर खोल दिए— हरी मिण्डियां'

सीधी सख़्त महीन ककड़ियाँ जैसी लखनऊ में बिकती हैं, हिन्दुस्तान के किसी नगर में नहीं देखने को मिलती है। इनका बाज़ार और प्रचलन बहुत पहले से यहां है, जिसका ये बन्द शायद सब की ज़बान पर होगा'

हरी महीन, ककड़ियाँ, नौ बहार ककड़ियाँ

लैला की उंगलियां, मजनूं की पसलियां

बहुत कुछ निकल जाने के बाद भी कभी–कभी कुछ न कुछ कानों में पड़ जाता है, जैसे— सावन के महीने में जब अंदरसे की गोलियों की तिजारत होती है तो बेचने वाले चिल्ला चिल्लाकर कहते पाए जाते है—

अरे भई जल रही हैं

आप के इन्तज़ार में, जल रही हैं

गोलियां अंदरसे की

या फिर सेवे सलोने, कड़वे करारे

लइया पट्टी वाले भी चना जोर गरम वालों की तरह बच्चों को बुलाने के लिए तरह–तरह से बैन करते है—

लइया राम दाने की, चुरमुर–चुरमुर खाने की

जल्दी दौड़ के आने की, अम्मां से पैसा लाने की

यहां अक्सर लोग सौदे का नाम लिए बिना ही सौदा बेचने वाले सौदा बेच लेते है और समझने वाले समझ लेते है कि क्या बिक रहा है जैसे—

आ गए बगिया के पेड़े (अमरुद)

जाड़े का मेवा मज़े बादाम के है (मूंगफली)

शहद के कुप्पे, डाल के टूटे (गूलर)

इसी तरह मोम की रंग–बिरंगी चिड़िया लेकर गलियों में डोलने वाले फेरी वाले, घर वालों का दिल जीत लेने के बोल बोलना खूब जानते थे लेकिन जब इस तरह के खेल–खिलौने खत्म हो गये तो ये बोल बचन भी बन्द हो गए।

हरी लाल चिरैया, खुशहाल चिरैया,

रंगदार चिरैया, दुमदार चिरैया

जिसके होयेंगे खेलइया, वहीं लेंगे चिरइया।

पूरा बिसातखाना लेकर बिसाती अपनी छोटे से बिसातखाने में, जब औरतों के साज़ सिंगार लेकर बेचते निकलते थे तो–

टिकली, बिंदी, चोटी, लाली,

लेलो चूड़ी बम्बई,

कह–कहकर औरतों का ध्यानाकर्षण करते थे और तो और दीवाली या शबे बारात में हाजी साहब पटाखे वालों की दुकान से, फेरी वाले एक किश्ती में पटाखे लेकर गलियों में सुनाते चलते थे–

पटाखे चीन के, आवाज बन्दूक की

कड़क बिजली की, चमक सितारों की है।

अब वो दिन बीती हुई बहार बन कर चले गए। अब तो लखनऊ भी एक गुज़रा गवाह, लौटा हुआ बाराती बन कर रह गया है। हाँ उस परम्परा की याद कभी–कभी ताज़ा हो जाती है, जब कलजुगी सीने की चेनें और चूड़ियां बेचने वाले ये कहते हुए कहीं मिलते है–

'सोने से कुछ कम नहीं, खो जाए तो ग़म नहीं।'

□□

लखनऊ के सजावटी परिधान

अवध का परम्परागत परिधान

अवध क्षेत्र में प्राचीन समय से लहँगा चुनरी (फरिया या दुपट्टा) पहना जाता रहा है, यही यहाँ का नागरिक और ग्राम परिधान रहा है, सिवा इसके कुछ क्षेत्रों में विशेष कर पूर्व में इसके प्रचलन की पाबन्दी नहीं थी और साड़ी का इस्तेमाल अधिक रहा है। यह क्षेत्र सरयू तथा गंगा पार के क्षेत्र हैं। यहां के देवीगीतों में भी स्त्रियां देवी के वस्त्रों में घंघरी–ओढ़नी का ही नाम लेती है।

दैनिक पहनावे में खददर, गल्ता, जौजी, चौपड़ और निमज़री के लहँगे पहने जाते थे जिन पर काली, लाल, नीली, बैगनीं रंग की ही गोटे लगती थीं और जिन गोटो को औरेब की काट से तैयार किया जाता था। जहाँ पर गोट और मुख्य थान वाले कपड़े का जोड़ बैठता था उस जगह पर कढ़ा हुआ फीता, कामदार बेल या गोटे की धनक लगा दी जाती थी, जिसको चसक कहते थे, और यह सारे लहँगें चसकदार लहँगे कहे जाते थे। इस लहँगों पर तनजेब मलमल नैनसुख, मैनाफल ओर जंगलवाड़ी या डोरिया के दुपट्टे ओढ़े जाते थे, जिन पर पतली किनारी लगा दी जाती थी और अक्सर बीच में रेशम की रंगीन बूटियां पड़ी होती थीं। यह सारे ही परिधान सूती कपड़ों के होते थे और जो दैनिक जीवन के लिए उपयुक्त भी रहते थे। परम्परागत पहनावा होने के कारण तीज त्यौहारों पर, शादी विवाहों पर या सुहागिनों में शामिल होने पर भारी लहँगा दुपटटा पहनने की अनिवार्यता यहाँ हमेशा रही है और जो बहुत कुछ आज भी चलन में बाकी है।

करवा चौथ, वट सावित्री, गोवर्धन (चिरैया गौर) शीतला अष्टमी, जैसे सुहाग के पर्वों पर स्त्रियाँ लहँगा, ओढ़नी अवश्य पहनती हैं

इनके साथ हाथों में चूड़ियाँ पहनना पैरो में महावर लगाना और गौर से सुहाग लेना जरूरी होता है

शादी में दूल्हे के घर से आया हुआ सुहाग का सामान चढ़ा दिया जाता है। इस चढ़ाव के सामान में माँग बेदी और पाज़ेब के साथ चढ़ाव का लहँगा–चूनरी जरूर रहता है इसके अलावा लटबोर का लहँगा और दिखाव के लहंगे भी भेजे जाते थे। यह लहँगे बनारसी पोत, कमख़ाब, ज़रबफ़्त अशर्फी, बूटी आदि के होते थे जिन पर सच्चे गोटे का काम बना होता था या फिर रेशम पर क़ारचौबी बनी होती थी।

गोटे में लचका पट़ा गोखरू, बनत, बाँकड़ी किरन चम्पा, चुटकी और धनुष से सजावट की जाती थी इन पर के दुपटटे, रेशमी, तनजेब, रेशमी लहरिया, मैनाफल या मालदही के होते थे। मालदह वाराणसी के पास का एक स्थान है जहाँ से यह विशेष कपड़ा मँगाया जाता था।

अवध स्कूल के लहँगों में औरेब की गोटदार लहँगे, कलीदार, लहँगे, पाटदार लहँगे, झालरदार लहँगे और कामदार लहँगे अपनी बनावट और सजावट के कारण अब भी अलग से पहचान लिये जाते हैं। हालांकि अब ये कारीगारी घरों से दूर हो गई है और अब बाज़ारू जोड़े मंगाए जाते हैं।

लखनऊ के गरारे और टुकड़ियों की गोट :

अवध सभ्यता में नवाबी की देन टुकड़ी की गोट के गरारे बहुत प्रसिद्ध रहे हैं और लखनऊ, इस वस्त्र शिल्प उद्योग का प्रमुख केन्द्र रहा है। ग़रारे के इतिहास के बारे में कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में जो परम्परागत घाघरा ओढ़नी का पहनावा प्रचलित था उसकी साज सज्जा और शान शौकत को देखकर नूरजहाँ बहुत प्रभावित हुई थीं। तब तक मुस्लिम ओरतों में सिर्फ आड़ा पैजामा, कलीदार पैजामा, शलवार और पठानी अरबी पैजामें प्रचलित थे। इस्लामी कानून के

ऐतबार से बिना मियानी का पहनावा स्त्रियों के लिये मंजूर नहीं था इसलिये नूरजहाँ ने लहँगे में मियानी लगाकर, ग़रारे का आविष्कार किया था। गरारे को ईज़ार भी कहा जाता है और इसलिये आज तक नारे को इजारबंद के नाम से पुकारते है। कहीं कहीं इसे घेरदार पैजामा भी कहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि गरारे को जो शानोशौकत अवध या विशेषकर लखनऊ में प्राप्त हुई वो कहीं और नहीं।

लखनऊ की तहज़ीब का सबसे विशिष्ट पहलू यही रहा है कि इसने पुराने वास्तुशिल्प, हस्तशिल्प, शब्दशिल्प, संगीत, नृत्य, लिबास, खानपान और रहन सहन सबमें नफ़ासत पैदा की है। इसी तरह ग़रारे की गोट में टुकड़ियों से जो सुन्दर वस्त्र शिल्प तैयार किया जाता है वो बेमिसाल है। टुकड़ी गोट का गरारा सुई धागे और सिलाई की करामात तो है ही इसमें रंगों का तालमेल कपड़ों की काट और डिजाइनिंग का अनुपम सौंदर्य भी शामिल है। ग़रारे की ये गोटें तमाम तरह की डिजाईनों को लेकर बनाई जाती रही हैं। जिनका घेर अकसर नौ मीटर तक होता है इसके दोनों पायचों में चार रंगों के जोड़ से नयी सुन्दर आकृतियों की डिजाइन रहती है। रंगों के जोड़ पर सोने चांदी की तारकशी या गोटें का धनुष जड़ा जाता है। अवध की बेगमात इतने भारी भरकम टुकड़ी के गरारे पहनती थीं कि उनके पायचों को कनीजे पकड़ कर चलती थीं। इन गरारों के पायचें सोलह कली के भी हुआ करते थे। बेगमों के कुछ यादगार गरारों में कीमती रत्न या मोती भी जड़े जाते थे। टुकड़ियों के गरारों में अधिकतर हल्के रंगों का इस्तेमाल होता था जिनमें गुलेनारी, हरा, बैंगनी और बसन्ती रंग विशेष रहता था। टुकड़ियों के गरारे के डिजाइनों के अनुसार उनकी जो प्रमुख गोटें प्रचलित हुईं उनके नाम इस प्रकार हैं– छड़ियों की गोट जिसमें कि सीधी पटिट्या जोड़ी जाती हैं। अगर टुकड़े त्रिभुजाकार हैं तो उसे गिलौरियों की गोट कहते हैं। अगर टुकड़े चौकोर होते हैं तो उसे पड़ाके की गोट या पटापटी की

गोट कहते हैं। अगर ये चौकोर टुकड़े कुछ लम्बाकार होते हैं तो उसे नमकपारे की गोट कहते है। चन्द्राकार टुकड़ियों की गोट कटारी की गोट कहलाती है उसके अलावा सिधाड़े की गोट, नहर की गोट, आड़ी घड़ियाँ, कोहनी और माहेपुश्त की गोटें भी होती हैं। ये टुकड़े बहुत ही नफ़ासत और सलीके के साथ जोड़े जाते हैं। अवध की नवाबी की देन टुकड़ियों के गरारों का चलन बिल्कुल समाप्त ही हो गया हो ऐसा नहीं है लेकिन इतना जरूर है कि अब उनमें वो बात बाकी नहीं रही। अब उन गरारों में उतना कपड़ा भी नहीं इस्तेमाल होता है और ना उनमें रंगों का चुनाव उतना बेहतरीन रह गया है।

वस्त्रों की रंगाई की कला :

अवध में वस्त्रों की रंगाई की कला से संबंधित बहुत से रोचक, प्रकरण और लोकगीत मिलते हैं जिनमें कपड़े रंगने वाले रंगरेजों का जिक्र आता है। उदाहरण के लिए अवधी का ये लोकगीत है –

हंकरहु नगर रंगरेजवा, कि हंकर बुलावहु हो

रामा, रंगे पचरंगी चुनरिया, मैं रनियाँ मनावऊँ हो

कपड़ों की रंगाई के तरीके समय–समय पर बदलते रहे है। लखनऊ की बातचीत और अपने निजी तौर तरीकों में यहाँ रंगों के नाम भी कुछ अलग ढंग से दिये जाते हैं। रंगों की विविधता के अलग–अलग जो उदाहरण हैं उनको उनके क़रीब तौर से कहने के लिये अक्सर अपनी रोज़मर्रा की जिन्दगी की कुछ चीजों से उन्हें जोड़ा जाता है। लाल, हरे, पीले, नीले, सफेद, काले नामों से अधिक यहाँ गुलाबी, चंपई, जाफ़रानी, मोतिया, संदली, किश्मिशी, शरबती, बादामी, पिस्तयी, फिरोजी, आसमानी, अबीरी, नारंजी, बैंगनी, सुरमई, कासनी, काही, बसंती, धानी, ऊदी, उन्नावी, मूंगिया, गुलेनारी, फालसई, सुवापंखी, नाम पुकारे जाते हैं। इन रंगों को रंगने वाले कपड़ों की किस्म के अनुसार उन्हें बड़े एहतियात से रंगते थे। पुराने समय में प्राकृतिक स्रोतों से ही ये रंग प्राप्त किये जाते थे जैसे हरसिंगार, टेसू,

गुड़हल, अनार, कत्था, कुसुम, हल्दी, नील, हिरमिंजी, वगैरह।

लखनऊ के इतिहास में रंगरेजी कला की अपनी एक अलग शान है। फ़तहगंज लखनऊ में किसी जमाने में एक ऐसा रंगरेज हुआ करता था कि जो दुपटटे की दोनों सतह अलग–अलग दो रंगों में रंग देता था। अवध के द्वितीय बादशाह नसीरूददीन हैदर की प्रिय बेगम कुदसिया महल के दुपटटे चौक इलाके का गामा नाम का रंगरेज रंगता था। बेगम अपने रंगसाज से बेहद खुश और प्रभावित थी और उन्होंने समय पड़ने पर उस कारीगर की हर तरह से सहायता भी की थी। गामा रंगरेज ने अपनी बेटी की शादी पर उनके महल कोठी दर्शन विलास में जाकर केवल तीन हजार रुपयों की जरूरत जाहिर की थी और उसकी ये बात उस उदार मलिका को बेहद नागवार गुजरी थी उन्होंने गामा से यही कहा कि ये अदना सी रकम तो तुम शहर में किसी से भी माँग सकते थे। तुमने ऐसे मुबारक मौके पर हमसे इतने कम रुपयों की फ़रमाइश करके दरअस्ल हमारी तौहीन की और तब उसे कई हज़ार और रुपये देकर महल से बिदा किया था। आज भी सोंधी टोला चौक के क़रीब सरकटा नाले पर बना हुआ पुल गामा बेगम की उदारता का गवाह है जिन्होंने गामा के घर तक बारात पहुँचने के लिये रातों रात पुल बनवा दिया था।

वस्त्रों के रंगरंजन में सादी रंगाई के अलावा झमक या बुक्का (माईका के छोटे चमकदार टुकड़ों) को रंग में मिलाकर कपड़ा रंगने की प्रथा भी रही है। ये टुकड़े सादे रंग की साड़ियों, ओढ़नियों में एक अजब आबोताब पैदा करते थे।

सावन के महीने में धानी रंग के दुपट्टे और साड़ियों की रंगाई का ज़ोर रहता है और जो मौसम की दरकार होती है। सावन के तीज और गुड़ियों जैसे त्यौहारों पर लड़कियाँ धानी, चुनरी, धानी साड़ियाँ और धानी चूड़ियों का विशेष प्रयोग करती हैं उसी तरह बसंत के समय में बसंती रंग के दुपट्टे रंगाये जाते हैं या साड़ियाँ

रंगवाई जाती हैं। सावन में हरे रंग के अलावा लहरिया के दुपट्टे और लहरियेदार साड़ियाँ भी रंगी जाती हैं। लहरिया क़ी रंगाई वास्तव में अवध का अपना स्कूल है। कई सुहाने इन्द्रधनुषी रंगों की आड़ी पटरियाँ लहरिया कहलाती हैं जिनको चिट रख कर रंगा जाता है। फ़िल्म उमराव जान में इनकी बहार देखी जा सकती है और आज भी ये दुपट्टे अमीनाबद, नज़ीराबाद में बिकते है।

बंधेज की चुनरी अवध में पुराने समय से इस्तेमाल में आती रही हैं परन्तु यहाँ जयपुर अथवा जोधपुर की तरह की महीन कारीगरी देखने में नहीं आती थीं। शादी विवाह के अवसर पर हिन्दू मुस्लिम दोनों घरानों में तनजेब या डोरियां की लाल चुनरी पहनी जाती थी जिस पर पीले रंग की चौकोर टिकड़ियां बीच–बीच में पड़ी रहती थीं और पल्ले पर पीले रंग की लहरियाँ भी बनी होती थी। यह ओढ़नी आमतौर से संगी के लहँगे पर ओढ़ी जाती थी जिसमें गोटे, चंपा, गोखरू की सजावट की जाती थी अब रंगरेजी की कला अन्य प्रदेशों के प्रभाव से और भी विकसित हो गयी है तथा अलग अलग ज्यमितीय डिजाइनों में प्रस्तुत की जाने लगी है। आज के लखनऊ में नामी रंगरेज, अकबरी दवाजे, गनेशगंज, डालीगंज, नया गांव में है, लेकिन इन में भी मौलवीगंज के लतीफ़ रंगरेज़ का जवाब नहीं है।

□□

ये आकाशवाणी लखनऊ है

रेडियो की दुनिया में अपनी साहित्यिक गरिमा सुरुचिपूर्ण कार्यक्रमों और मनोहर भाषा, संवाद के लिए लखनऊ रेडियो की अलग ही पहचान बनी हुई है। जीवन का शायद ही कोई ऐसा अंग होगा जिसको आकाशवाणी के इस केन्द्र द्वारा न छुआ गया हो। "बहुजन हिताय–बहुजन सुखाय" की शिवचेतना लेकर इस केन्द्र की लहरें सदा ही आपके घर–आंगन में बिखरती रही हैं और बिखरती रहेंगी।

राजधानी लखनऊ के कौंसिल हाउस के निकट रायल होटल के आगे राजा साहब ससेंडी की कोठी के भू–भाग पर लखनऊ रेडियो स्टेशन की स्थापना की गयी थी और उस ज़माने में उसके पास ही "आइडियल फिल्म स्टूडियो– कैलाश स्टूडियो" के क्षेत्र थे।

अपने देश में अगस्त 1921 को रेडियो से पहला संगीत का प्रोग्राम बम्बई से प्रसारित किया गया था। उसके पश्चात् उत्तर भारत में दिल्ली रेडियो स्टेशन, 1 जनवरी 1936 से विधिवत् प्रारम्भ हुआ। और फिर उसके बाद लखनऊ रेडियो स्टेशन की ही बुनियाद पड़ी पहले रेडियो का प्रसारण आल इण्डिया रेडियो के नाम से होता था बाद में पं नरेन्द्र शर्मा जी ने उसे भारतीय भाषा में आकाशवाणी जैसा अद्वितीय नाम दिया।

उस समय मुल्क पर अंग्रेजी हुकूमत थी और गांधीजी जनता के दिलोजान पर राज कर रहे थे। इस तरह जब लखनऊ आकाशवाणी का जन्म हुआ तो शहीदाने वतन अपने वतन पर निसार हो रहे थे। 2 अप्रैल, 1938 की शाम पं. गोबिन्दबल्लभ पन्त जी के हाथों लखनऊ रेडियो स्टेशन का उद्घाटन हुआ था और उस समय जो पहला गीत यहां से प्रसारित हुआ था, वह था..."प्रभु राखें भक्तन की लाज"। लखनऊ रेडियो स्टेशन ही सारे देश का वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण

केन्द्र है, जहां से होकर देश के अनेक गायक, शायर, संगीतज्ञ और विद्वान गुजरे हैं। 3 अक्टूबर सन् 1957 से विविध भारती कार्यक्रम प्रारंभ हुआ उत्तर प्रदेश में लखनऊ ही इसके प्रसारण का प्रमुख केन्द्र बना।

देश की बड़ी से बड़ी हस्तियां ऊँचे विद्वान और कलाकार इस केन्द्र पर रेकार्ड किए गए हैं। साहित्य और संगीत के इस शानदार मंच से ही अमृतलाल नागर जी, भगवती बाबू, कृष्ण चन्दर, सरदार जाफरी और अली जव्वाद ज़ैदी जैसे अनेक साहित्यकारों ने अपनी शुरुआत की है। यहीं वह ऐतिहासिक उर्दू–हिन्दी कवि सम्मेलन हुआ था जिसकी अध्यक्षता पं. जवाहर लाल नेहरू ने की थी। भारतीय संगीत की दुनिया के कुछ नामी सितारों जैसे सिद्वेश्वरी देवी, बेगम अख़्तर, पं. रविशंकर, बिस्मिल्ला खां, वी.वी. जोग, तलत महमूद आदि ने इसी रेडियो स्टेशन से होकर आगे कदम बढ़ाया है। कुछ और साहित्यकारों जैसे माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा "नवीन", सुमित्रा नन्दन पंत, तथा महादेवी वर्मा आदि की अनमोल रचनाएं यहां उनके ही स्वर में आज भी संग्रहीत हैं।

मशहूर संगीतकार, मदनमोहन तथा जयदेव, सुप्रसिद्ध सरोद वादक अली अकबर खान, सुविख्यात बांसुरी वादक रघुनाथ सेठ और ग़ज़ल गायक मुजद्दिद नियाजी तो इस केन्द्र पर कभी कार्यरत भी रहे हैं।

इसी स्टेशन का पुराना प्रसिद्ध प्रोग्राम "सहेली बूझ पहेली" सज्जाद हैदर साहब की बेटी "कुर्रतल एन. हैदर" पेश किया करती थीं, जिन्होंने सुप्रसिद्ध उपन्यास "आग का दरिया" लिखकर बेशुमार शोहरत हासिल की है। लखनऊ रेडियों पर ही शौकत थानवी मुंशी जी का चरित्र अदा करते थे और एक किरदार में बूढ़ी औरत की आवाज़ भी खुद निकालते थे।

यहां पहले गज भर व्यास वाले मसाले के रिकार्ड बना करते थे

जिनमें लम्बे–लम्बे ड्रामे भरे जाते थे। अख़्तरी बाई फैजाबादी ने आकाशवाणी लखनऊ के एक पुराने रेडियो नाटक "रक्कासा" में हीरोइन का पार्ट अदा किया था। उसी ज़माने का मशहूर ड्रामा "लालारुख" भी यहां तैयार किया गया था जिसमें नायक की भूमिका तलत महमूद ने अदा की थी ओर नायिका के रोल के लिए कलकत्ते से "जहां आरा" उर्फ "कज्जन बाई" को बुलाया गया था।

शहरी कार्यक्रमों के विविध रंगों के अलावा ग्रामीण क्षेत्रों के उपयोगी प्रोग्राम में भी भर पूर मनोरंजन प्रदान करते रहना लखनऊ रेडियो की विशेषता रही है। अवधी के परम विद्वान तथा कवि चन्द्रभूषण त्रिवेदी "रमई काका" नाम से यहां पंचायत घर का मशहूर कार्यक्रम पेश किया करते थे। बलदेव प्रसाद दीक्षित "पढ़ीस" ने भी अवधी भाषा के माध्यम से आकाशवाणी लखनऊ से बहुत दिनों तक नाता रखा था। "रमई काका" बहरे बाबा के रूप में, कवियित्री सुमित्रा कुमारी सिन्हा "बताशा बुआ" नाम से और कलाकर श्रीमती कृष्णा मिश्रा "काकी" के सन्दर्भ में सदा ही याद रखे जायेंगे।

रेडियो की दुनिया

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आकाशवाणी ने दुनिया की दहलीज़ में पांव रखकर जो तहलका मचाया था उसमें किसी वरदान जैसी तृप्ति का आनन्द था मगर फिर वैसी उपलब्धि उतरार्द्ध में जब दूरदर्शन की आमद बरामद हुई तो मुमकिन न हो सकी क्योंकि इस दौर के साथ–साथ इलेक्ट्रिानिक शक्तियों के छोटे–बड़े नमूने भी पेश हो चुके थे और कम्प्यूटर के तमाम कारनामे भी सामने आचुके थे।

दूरदर्शन की चमक दमक ने उसे सस्ती लोकप्रियता तो दी और लोगों को ऐसा भी लगने लगा कि शायद अब रेडियो के पांव उखड़ जाएंगे परन्तु ऐसा हुआ नहीं। हिन्दुस्तान में रेडियो सुनने वाले, टी. वी. देखने वालों से बीस गुना ज्यादा हैं। रेडियों की जड़ें जितनी गहरी हैं दूरदर्शन उतनीगहराइयों तक कभी पहुंच ही नहीं सकता।

जंगल हो या पहाड़, पैदल हो या सवार, रेडियों सब जगह, सबका साथ दे सकता हैं। उसे बेडरूम से लेकर नीम के नीचे तक बराबर सुना जा सकता है, कालेज से कारख़ानों तक बराबर अपने साथ रखा जा सकता है, लेकिन दूरदर्शन की सीमाएं इतनी विस्तृत नहीं है। लखनऊ, दिल्ली विविध भारतीय, रेडियो सीलोन, बी.बी.सी., वायस आफ अमेरिका, उर्दू सर्विस, रेडियो नेपाल या पाकिस्तान सुनने वाले यहां आज करोड़ों की तादाद में हैं। जिसमें रेडियों सिटी और एफ़ एम ने और भी तहलका किया है।

एक उपन्यास पढ़ने का जो आनन्द है वह उसी कथानक पर बनी फिल्म देखने में नहीं आ सकता क्योंकि वहां अपनी निजी कल्पनाशीलता का नाश हो जाता है और हमें किसी की रुचि, विचार और चित्रणता की मोहताजगी उठानी पड़ती है और अक्सर ही ये मंजर इच्छानुकूल नहीं होते बहरहाल निराकार और साकार विधा का जो द्वन्द है, वो रेडियो और टी.वी. के बीच बना ही रहता है।

आधुनिक भारतीय परिवेश की सिनेमाई संस्कृति ने यहां और देशों के मुकाबले में दूरदर्शन के भाव जरूर बढ़ा रखे हैं। दूरदर्शन फिल्मों और फिल्मी कार्यक्रमों की गरज से ही अधिकाधिक इस्तेमाल में है। इस फोटो बाक्स में बाजारू फिल्मी प्रसंग अथवा अश्लील नंगे नज़ारों को दिखाने की होड़—सी लगी मिलती है। दरअसल दूरदर्शन को उसके मक़सद से बहुत पीछे ढकेल रखा गया है। क्योंकि शिक्षा, तकनीकी ज्ञान और विश्वस्तर की जानकारी की जौ ठोस उपलब्धियां दूरदर्शन के महत्व को बढ़ाती हैं— भारतीय जनता को उसमें तनिक भी रुचि नहीं है। इस तरह "आगरे का ताज देखो— देखो नंगी औरत", वाले बायस्कोप और आज के टी.वी. में कोई बड़ी असमानता नहीं है।

सारे विश्व में इस बात को महसूस किया जा रहा है कि बुद्धिजीवी वर्ग आज भी रेडियो को अपना अन्तरंग मानता है और टी.वी. की गिरफ्त से दूर भागता है। दूरदर्शन घातक पराकिरणों

सहित एक साथ दो ज्ञानेन्द्रियों पर हमला कर के इंसान को जल्दी ही थका देता है जबकि धीमी ध्वनि का रेडियो, सुनने वाले को एक ऊर्जा देता रहता है और तरोताज़ा बनाए रखता है। बिस्तर पर तकिया के करीब रखा रेख ट्रान्ज़िस्टर को आंख मूंद कर आहिस्ता–आहिस्ता सुनने वाला, वास्तव में सकून के साथ आनंदित होना जानता है। रेडियो एकान्त में एक अच्छा साथी साबित होता है जबकि टी.वी. देखने के लिए एक ही जगह जमात में बैठना कुछ न कुछ जरूरी हो जाता है और ज़ाहिर है कि आदमी ऐसे उबाऊ माहौल को बहुत देर तक बर्दाश्त नहीं कर सकता। दूरदर्शन घर की नियोजित गतिविधियाँ तथा बच्चों के शिष्ट सांस्कृतिक विकास में भी बहुत व्यवधान डालता है ओर यही वजह है कि सारे जहां में जिस तेज़ी से दूरदर्शन का नशा सवार हुआ था, उसी तेजी से उतर भी रहा है। लोग फिर रेडियों, ट्रांजिस्टर की ओर तेज़ी से खिंच रहे हैं।

आकाशवाणी केन्द्रों पर दूरदर्शन की तरह की झूठी चमक–दमक न होने के कारण कला और संस्कृति का आदर आज भी पहले जैसा ही होता है। प्रतिभाशाली विद्वानों और कलाकारों को आकाशवाणी पर बड़ा सन्तोषजनक सम्मान प्राप्त होता है।

हैराल्ड मेडलसन ने अपने सर्वेक्षण में यही मालूम किया है कि "रेडियो के मानव मन से इतना अधिकजुड़े रहने का कारण है आम आदमी की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति"। रेडियों के साथ श्रोता की निजी कल्पनाशीलता, रुचि और रचनात्मकता का बड़ा सुन्दर सामंजस्य रहता है।

प्रभात के समय आकाशवाणी का प्रभाव घर आंगन में जो प्रभाती बिखेरता है, उसे सजती संवरती घरवाली, ब्रश करते बच्चे और चाय पीते हुए पिता समान रूप से दिन के शुभारंभ की तरह अनुभव करते हैं। दोपहर में रेडियों जब रसोई घर में कार्यरत घरेलू औरतों की थकावट भरा अकेला पन मिटाता है तब उन्हें इससे मोह हो जाना स्वाभाविक ही है। इसी तरह देर रात तक रेडियो से प्रसारित

समाचार, अच्छी वार्ताएं बेहतरीन कलाम, सुन्दर नाटक या सदाबहार पुराने फिल्मी गीत, उपयोगी परिचर्चाएं मनुष्य को किसी बहुत करीब से मिलने वाले का मज़ा या मशवरा प्रदान करती हैं, लेकिन इस सबके लिए किसी अच्छे रेडियों स्टेशन का श्रोता होना होता है। रेडियो की दुनिया में भी आज बहुत रचनात्मक क्रान्तियां हो चुकी हैं। इसकी तकनीक में आकर्षण, लेखन में चुस्ती और पेशकश में काफी चमक पैदा की जा चुकी है। भारतीय फिल्मों के पुराने सुनहरे संगीत सुनने के लिए हमें रेडियो का आभारी होना ही होता है जहां से हमें सहगल, लता, रफ़ी नूरजहां, मन्ना डे, शमशाद बेगम, मुकेश, गीताराय, तलत और आशा की आवाज़ में चिरंजीवी गीत सुनने को मिलते है क्योंकि कैसेटों में नक़ल और नक्कालों की भरमार हो गई है और वहां हम इन अमर कलाकारो को खोते जा रहें है। सुगम संगीत और शास्त्रीय संगीत के ललित कार्यक्रम आकाशवाणी पर निश्चित तथा नियमित रूप से सुलभ होते हैं। आकाशवाणी के रात्रि प्रसारण के राष्ट्रीय कार्यक्रम की बेहतरीन योजना तथा एफ.एम. चैनल ने तो रेडियो की दुनिया में इन्कलाब पैदा कर दिया है। इसी तरह हैलो फ़र्माइश का ज़ोनिक कार्यक्रम भी सबको रेडियों से जोड़ रहा है। आकाशवाणी के विविध भारती कार्यक्रम को देश की 40 महान उपलब्धियों में विश्वस्तर पर गिना गया है।

सच तो यह है कि रेडियों और टी.वी. में सौतिया डाह की स्थिति पैदा करना बड़ी मूर्खता होगी। ये दोनों बहनें ही है और छोटी बहन के झमकदार झुमकों को दखे कर बड़ी बहन के जल जाने का कोई सवाल नहीं होता क्योंकि उसकी सुरीली आवाज़ ही उसका अपना ज़ेवर है।

□□

राजधानी और राजभवन

अवध के इतिहास में जनरल क्लाड मार्टिन एक मशहूर हस्ती का नाम है। क्लाड मार्टिन फ्रांस के लियोंस नाम के शहर में 4 जनवरी 1735 को पैदा हुए थे। वे सन् 1785 में काउंट डिलेली साहब के अंग रक्षक बनकर हिन्दुस्तान आये थे कुछ अर्से तक वो भारत के दक्षिण और पूर्वी भाग में रहे उसके बाद लखनऊ आए। इस शहर की खूबसूरती और यहां के लोगों की तहज़ीब से वो इतना प्रभावित हुए कि यहां स्थायी रूप से बस जाने का फैसला कर लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्टिन कुशल क्षमताओं और अनेक सदगुणों के धनी थे। शहर में अपने सामाजिक शिष्टाचार, सदव्यवहार और नगर के प्रति अटूट निष्ठा के कारण वो बहुत लोक प्रिय हो चुके थे। उनका एक अपना निजी अपूर्व व्यवसाय था और इसी से वो दिनों--दिन अमीर होते चले गये। लखनऊ शहर के लिए नये प्लान बनाना और शानदार इमारतों के निर्माण की देख-रेख करना मार्टिन का पसन्दीदा शौक था। इसी हुनर के हाथों वो नवाब आसफुददौला के दरबार के प्रमुख बन गए। अब तक वो चनहट कोठी, कोठी बीबीपुर, मूसाबाग़, कोठी फ़रहत बख़्श बना चुके थे।

सन् 1798 में नवाब आसफुददौला के बाद नवाब सआदत अली खां को ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार ने दुर्गाकुण्ड बनारस से लाकर लखनऊ के तख्त पर बिठा दिया। नये नवाब को मार्टिन की बनवाई हुई यूरोपियन स्टाइल की इमारतें बहुत पसंद आयी। जनरल क्लाडमार्टिन लखनऊ में विदेशी वास्तु की ऐसी कोठियां तेज़ी से तैयार करने लगें। इमारतें बन जाने के बाद उसके स्वामित्व के लिए एक खुशनुमा रक़म लेकर वो उन्हें नवाब के नाम करते जाते थे। इसके अलावा नवाब की इच्छानुसार कोठियां बनवाने का ठेका भी मार्टिन साहब ने ले रखा था। कोठी हयात बक्श इसी तरह का एक

निर्माण है जिसमें दोनों की साझेदारी थी।

कोठी ह्यात बख्श

लखनऊ शहर का ये दो मंजिला शानदार भवन शहर के पूर्व में हरे भरे दरख्तों के बीच में बनवाया गया था। ह्यात बख्श का अर्थ ही "जीवन दायिनी" जगह है। कम्पनी सरकार के असर से बनने वाली इस तरह की इमारतें यहां कोठी कहलायीं जो कि यहां की परम्परागत भवन शैली से बिलकुल अलग हुआ करती थीं। भारतीय शैली के मकानों में आंगन होना बहुत ज़रूरी होता था जिसके लिए इन कोठियों में कहीं कोई गुंजाइश नहीं रखी जाती थी। कोठियां प्रायः दो मंजिला हुआ करती थी जिनकी ऊंची सीधी सपाट दीवारों पर कोई अलंकरण नहीं होता था और जो कुछ भी रचनात्मक स्थापत्य रहता था वो गाथिक शैली में खिड़की दरवाजों की साज सज्जा के लिए होता था।

कोठी हयात बख्श एक हवादार आलीशान इमारत है जिसके चारों ओर ऊंची छत वाले शानदार बरामदे है। कोठी के अन्दर का राज दरबार ही भारतीय स्थापत्य और कला शिल्प में बना हुआ है जब कि शेष भवन पूरी तरह से विशिष्ट पश्चिमी प्रभाव लिए हुए है। दीवान खाने की महराबों के साथ सुन्दर फूल बूटे कारी बनी हुई है। जिनकी सजावट में सुनहरी कलम से काम लिया गया है।

राजभवन के बरामदे में लगें हुए कोठी के पुराने चित्र से ये मालूम होता है कि एक जमाने में इस इमारत पर चारों तरफ छप्पर छाया हुआ था और जो इसे तत्कालीन देशी मकानों की श्रेणी में कुछ शामिल करता था। सच तो ये है कि इस भवन को केवल नवाब का दिया हुआ नाम मिला, ये आवास कभी उनके काम नहीं आया और न इसमें उनके खानदान के लोग ही कभी रहे। इसकी जो मुख्य वजह थी वो ये थी कि ये कोठी दौलत सराय सुल्तानी, छतर मंजिल और राज दरबार के इलाके से बहुत दूर थी।

जनरल क्लाड मार्टिन ने इसको अपना निवास स्थान बनाया था यहां उनके सुरक्षा सैनिकों और हथियारों का पूरा प्रबन्ध था। जनरल मार्टिन के द्वारा पाली गयी लड़की गोरी बीबी इस मकान में कुछ दिन रहीं है। सन् 1830 के आस पास बादशाह नसीरूद्दीन हैदर के वक्त में इस कोठी में कर्नल राबर्ट्स रह रहे थे।

सन् 1857 ई. के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में लखनऊ रेजीडेंट हेनरी लारेंस की बड़ी अहम भूमिका रही है। उनका भी इस कोठी में आना जाना था। बाद में जब कर्नल 'इंगलिश' फौज के कमांडर बनाये गये तो वो भी यहीं रहे थे। मेज़र जानशोर बुक जब अवध के चीफ कमिश्नर बने तो उन्होंने इसी भवन में निवास किया इसके बाद जब मेज़र बैंक साहब ने यहां निवास किया तो ये कोठी "बैंक हाउस" कही जाने लगी और कोठी के पश्चिमी गेट से क़ैसरबाग तक पहुंचने वाली सड़क को "मेज़र बैंक रोड़" कहा जाने लगा। 21 जुलाई सन् 1857 को मेजर बैंक एक क्रान्तिकारी की गोली से ज़ख्मी होकर गुज़र गये तो उन्हें रेजीडेंसी में दफ़्ना दिया गया। हजरत गंज के बीच बनी हुई ऐतिहासिक बेगम कोठी (जहां अब जनपद बाज़ार है) में घायल होने वालें मेजर हडसन ने इसी कोठी हयात बख़्श में अपनी अंतिम सांस ली थी।

इसके बाद ब्रिटिश रणनीति का रूख़ बदल गया और कॉलिन कैम्पबेल साहब मदद की फौज लेकर कानपुर से लखनऊ आ पहुंचे। उस समय ब्रिगेडियर रसेल की देख–रेख में कोठी हयात बख़्श अंग्रेजी फौज की गढ़ी बन गयी। 18 मार्च सन् 1857 में इस भवन पर स्वतंत्रता सेनानियों ने फिर आक्रमण कर दिया था, लेकिन सर एडवर्ड लेगार्ड की कमान ने इसे क्रान्तिकारियों से मुक्त करा लिया।

1857 के बाद :–

अवध पर पूर्ण अधिकार पा जाने के बाद ब्रिटिश शासकों ने कोठी हयात बख़्श के विस्तार की योजना बनायी। सन् 1873 में सर

जार्ज कूपर के निर्देशन में इसके साथ खूबसूरत बाग़ बग़ीचा, कई फव्वारे और सुन्दर बैठकें लगाई गयीं जो पहले कैसरबाग में थी उस समय मेसर्स पार्क ऐलेंन एण्ड कम्पनी के नाम से एक व्यवसायिक प्रतिष्ठान सड़क के किनारे बन चुका था अब जहाँ राजभवन का डाक घर कायम है। उस क्षेत्र में एक बारादरी भी थी जो अब मकानों के बीच घिर कर समाप्त हो चुकी है। शाही मस्ज़िद इसी के क़रीब ही बनी हुई थी।

19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में ब्रिटिश अधिकारी के परिवार लखनऊ आने पर इसी ऐतिहासिक भवन में ठहरते रहे है। राजभवन के पश्चिम उत्तर में बहुत बड़ा रमना (चरागाह) था जो शाही घोड़ों के अस्तबल के साथ था। घोड़ों के रख रखाव करने वालों की छोटी सी आबादी भी यहां थी। ये लोग रायल ब्रिटिश फोर्स के घोड़ों को चुस्त और तैयार रखते थे। इन्ही नालदारों के लिए एक छोटी से मस्जिद बनी थी जो नालदारों की मस्जिद कहलाती है और अभी भी उत्तर प्रदेश के विधान सभा भवन के पीछे देखी जा सकती है। राज भवन के इलाके में ही एक सम्भ्रान्त मुस्लिम का मज़ार भी है जहां अक्सर लोग गुरूवार को पूजा अर्चना करते देखे जाते है।

20वीं शताब्दी में राजभवन :–

सन् 1907 में इस कोठी का एक भाग गुसुलखाना (स्नानागार) गिरवा दिया गया। भवन में एक शानदार नाचघर जोड़ा गया जिसका डांसिंग फ्लोर प्रसिद्ध है और जहां यूरोपियन जोड़े "नृत्य का उत्सव" मनाते थे। कीमती लकड़ी से निर्मित इसी नाच घर में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल का प्रीति भोज कक्ष है। जहाँ आमंत्रित राज्य अतिथियों को दावतें दी जाती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व से ही कोठी ह्यात बख़्श को यूनाइटेड प्राविसेज़ आगरा एंड अवध के गर्वनर का सरकारी आवास बना दिया गया था। और तभी इस भवन को वर्तमान रूपेरखा प्रदान की गयी।

सन् 1971 में सूचना विभाग लखनऊ से प्रकाशित श्री एस.एन. घोष की पुस्तक "यू.पी. में गवर्नरशिप के 50 वर्ष" में इस कोठी के रहने वाले गवर्नरों का सिलसिले वार व्यौरा दिया गया है जो संक्षेप में इस प्रकार है।

1. सर स्पेंसर हारकोर्ट बटलर – 3.1.1921 से 21.12.1922 तक।
2. विलियम सिक्लिअर मैरिस – 21.12.1922 से 14.01.1928 तक।
3. एलेक्जेन्डर फिलिप्स मुडिमन – 15.1.1928 से 17.6.1928 तक।
4. विलियम मेल्कम हेली – 10.8.1928 से 5.12.1934 तक।
5. हेरी ग्राहम हेग – 6.12.1938 से 16.5.1938 तक फिर 17.9.1938 से 6.12.1939 तक।
6. म्यूरिस गार्नियर हैलेट – 7.12.1939 से 6.12.1945 तक।
7. फ्रेंसिस वर्नर विली – 7.12.1945 से 11.8.1947 तक।
8. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद श्रीमती सरोजनी नायडू – 15.8.1947 से 2.3.1949 तक।
9. होरमास जी पेरोशा मोदी – 2.5.1949 से 1.6.1952 तक।
10. के.एम. मुंशी – 2.6.1952 से 9.6.1957 तक।

स्वाधीन भारत में इस भवन को राज भवन का नाम दिया गया। उ.प्र. की प्रथम राज्य पाल श्रीमती सरोजनी नायडू की मृत्यु इसी राज भवन के अन्दर 1949 में हदयाघात से हो गयी थी। सारा नगर यहां उमड़ आया था। पं. नेहरू उनकी बेटी पद्मजा नायडू को सांत्वना देने यहीं आये थे। गवर्नर कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी के समय में राज भवन में बहुत महत्वपूर्ण फेर बदल हुए थे उनके द्वारा बनाया गया 'गुप्त कक्ष' भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा का प्रतीक हैं उन्ही के राज्य काल में राज भवन में दीपावली की धूम होती थी और उस दिन नगर निवासियों के लिए सारे द्वार खोल दिये

जाते थे।

कुछ दिनों पहले तक राजभवन के अतिथि कक्ष में बेगम समरू का एक विशाल तैल चित्र लगा हुआ था जिसे अब दूसरी जगह लगा दिया गया है जिसके बारे में कहा जाता है कि जब राजधानी इलाहाबाद से लखनऊ स्थानांतरित हुई थी तब ये चित्र यहां लाया गया था उसके साथ की दलील ये है कि इस चित्र के एक दमसामने जो जंगी आईना लगा हुआ था वो भी उसी वक़्त लाया गया था। उस आईने के फ्रेम का उपरी मत्था रास्ते में टूट गया था और इस ऐब को बड़ी खूबी से लकड़ी की एक कला कृति से छिपा दिया गया है।

उत्तर प्रदेश के तराई इलाक़े का जांबाज़ सुल्ताना डाकू जब अंग्रेजी अहद में बड़ी मुश्किल से अंग्रेजों के हाथ आया तो उसके हथियारों का जख़ीरा भी अंग्रेजों के हाथ लगा। सुल्ताना डाकू के असलहे नैनीताल के ग्रीष्म ऋतु वाले राज भवन में अच्छी तादाद में लगे है जब कि लखनऊ के राजभवन में सजे हुए हथियारों में सिर्फ उसका एक भाला लगा हुआ है।

बेगम समरू की रंगीन कहानी :—

राजभवन लखनऊ में लगा हुआ बेगम समरू का विशाल तैल चित्र और उनके 'दीवानख़ाने में मेहमानों के साथ' का एक और चित्र है ये दोनो चित्र बड़े विवाद और रहस्य का विषय है। इस चित्र में एक बूढ़ी महिला सफ़ेद मुस्लिम पोशाक में बैठी हुई है जो वास्तव में बेगम मालूम होती है परन्तु अपने हाव—भाव और लिबास के अन्दाज़ से उसे अवध की बेगम नहीं कहा जा सकता। चित्र के नीचे कोई नाम नहीं है, लेकिन ये मेरठ की सरधना रियासत की मशहूर मालकिन बेगम समरू का चित्र है इसमें कोई सन्देह नहीं। ब्रिटिश म्यूज़ियम में लगी हुई बेगम समरू की अवध पेंटिंग का चेहरा भी बिल्कुल यही है। बेगम समरू कभी दिल्ली के लाल किले में शाह आलम के महल में नौकरानी थी। उसके हुस्नो शबाब और दिलैरी ने

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक फ्रेंच आफ़िसर रेनिहार्ट का दिल छीन लिया था। बाद में उन दोनों की शादी हो गई इस आफ़िसर का नाम समरू भी था। इसी लिए वो सरकारी तौर पर बेगम समरू के नाम से विख्यात हुई।

फ़्रेंच अधिकारी समरू 4 मई 1778 को मार दिया गया। उसके बाद उसकी बेवा होने के नाते उन्होंने 7 मई 1781 को आगरा के रोमन कैथोलिक चर्च में जाकर ईसाई मज़हब स्वीकार कर लिया और जहां उन्हें नया नाम जोअन्ना मिला। जब सन् 1783 में गुलाम क़ादिर नाम के रोहिल्ला सरदार ने हमला कर दिया तो उस मौक़े पर बेगम समरू ने अपनी फौज लेकर उसे दिल्ली से बाहर खदेड़ दिया। उनकी बहादुरी और बर्ताव से खुश होकर बादशाह ने उन्हें "ज़ैबुन्निसा" का ख़िताब भी दिया।

बेगम समरू के साथ तमाम प्रणय प्रसंगों की कहानियां जुड़ी हुई है और बाद में उनका नाम कामुकता की पहचान बन गया वो एक फ्रांसीसी जवान से भी जुड़ी हुई थीं। फिर उन्होंने जार्ज थामस से शादी भी कर ली थी। सुहाग उनके ज़ायचे में लिखा नहीं था वो फ़िर विधवा हो गयी, लेकिन उनके चर्चे बराबर बने रहे। उन्होने ही मेरठ में अपनी जागीर सरधना में एक आलीशान चर्च बनवाया।

लखनऊ में ऐसा कहा जाता है कि कम्पनी सरकार की मेहरबानी से एक ज़माने में बेगम समरू कोठी ह्यात बख्श में आकर रही हैं जिसे उन्होंने ख़रीद लिया था। या फिर कम्पनी सरकार के किसी अ़फसर की मेहरबानी पर वो मार्टिन साहब के इस मकान में रही। अपने लखनऊ निवास के दौरान उन्होंने यहां के नौजवान लड़कों का भरपूर यौन शोषण किया। उन कमसिन सद्य यौवन वाले रूपवान लड़कों के साथ बर्बरता की हद तक अपनी यौनेच्छा तृप्ति कर लेने के बाद बेग़म उन लड़को को मरवा देती थीं और उनकी लाशें कोठी के विशाल तहख़ाने में फ़िकवा देती थीं। लखनऊ के

पुरानी लोगों का दावा रहा है कि इस भवन के पाताल महल में नौजवानों की हड्डियों का अम्बार मिलेगा। उसकी दलील में वो लोग इस तहख़ाने से निकलने वाले बिज्जुओं की गवाही गानते है। बिज्जू सरीसृप श्रेणी का वो जन्तु होता है जो सड़े मुर्दों का मांस खाता है। लखनऊ राजभवन के तहख़ाने में बेशुमार बिज्जू हैं जो अक्सर इधर उधर आते जाते दिखायी देते है। उल्लेखनीय है कि भूतपूर्व गवर्नर श्री सत्यनारायण रेड्डी के जूते के नीचे कुचलकर एक बिज्जू मर गया था।

ऐसा भी कहते है कि बेगम समरू ने बाद में ये कोठी योरोपियन सौदागरों को उपहार स्वरूप दे दी थी जो इसमें रह कर नील का व्यापार करते थे। नील की खेती लखनऊ के आस पास पुराने समय से होती आयी है लखनऊ कैन्ट के पास का नीलमथा गांव इसका ज्वलंत प्रमाण है।

बेगम समरू का इन्तकाल 27 जनवरी 1836 को हुआ और वो अपने सरधना स्टेट (जिला मेरठ) के सुप्रसिद्ध चर्च क्षेत्र में दफ़न हुई। उस समय अवध में शाह द्वितीय नसीरूददीन हैदर का राज्य था। बेगम के सरधना चर्च में भी अवध दरबार की खूबसूरत पेन्टिंग्स लगी हुई हैं।

आज का राज भवन :–

पुरानी शानों शौकत के साथ परिसर की सुन्दर सुराहीदार रेलिंग, चारों तरफ़ की हरियाली, ऊचें–ऊचें दरख्त, खूबसूरत बाग़, फव्वारे और रोशनी आज के राजभवन को और भी रमणीक बनाये हुए है। राजभवन के वास्तु विन्यास में बहुत कुछ तोड़ फोड़ और तब्दीली की जा चुकी है। इसकी आराज़ी पर आवासीय कालोनियां बनायी जा चुकी है। आज ये राज्यपाल के निवास के साथ ही साथ राज्य सरकार के कुछ प्रमुख अतिथियों के सत्कार में और विशेष समारोहों में प्रयुक्त होता है। वार्षिक पुष्प प्रदर्शनी में नगर के लोग भारी तादाद

में यहां आते है।

राजभवन के मुख्य प्रासाद के सामने राज्य सरकार की शासकीय मुहर की रचना पर एक विशाल फव्वारा बनाया गया है। इसमें गंगा–जमुना और सरस्वती की प्रतिमाएं धारा के साथ सजी है, धनुष बाण बना हुआ है और मछलियों का एक मनोरम जोड़ा सजा हुआ है। संगमरमर की एक खुशनुमा छतरी उसके उपवन में और भी रंग भरती है। उ.प्र. की राजधानी लखनऊ का ये शानदार राजमहल रहस्य और रोमांच की सैकड़ों कहानिया अपने सीने में छिपाए हुए है। वर्तमान में महामहिम राज्यपाल उ.प्र. आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का दौर सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक उत्थान के साथ साथ अपने शिष्ट स्नेहिल वातावरण के लिए राजभवन के इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय कहा जाएगा।

□□

स्वाधीनता जनक्रान्ति और लखनऊ

लखनऊ का इतिहास जिस तरह से भी लिखा गया और जिस नजरिए से देखा गया उस में एक बात अधिक उभर कर आती है कि वो पतनशील संस्कृति का पहरेदार रहा है, लेकिन दुनिया को यह नहीं बताया गया कि वीरता और शौर्य में लखनऊ वालों की जो अपूर्व भागीदारी रही है उसकी संसार में कोई दूसरी मिसाल नहीं है। ब्रिटिश राज सत्ता में जो चार दुर्दान्त सेनानायक थे– जनरल नील, मेजर हडसन, हेनरी लारन्स और कोलिन कैम्पवेल इन चार में से पहले तीन यहाँ लखनऊ में मार दिये गये और उनको मारने का श्रेय किसी बादशाहत या रजवाड़े को नहीं है उन्हें लखनऊ की जनता ने मार गिराया था जिसके पास आपसी एकता की बहुत बड़ी ताकत थी। जाने आलम के कलकत्ता चले जाने के बाद फरवरी सन् 1856 से लखनऊ में स्वाधीनता संग्राम आरम्भ हो गया था और यह बेचैनी मई सन् 1857 में मंगल पाण्डे का स्वर पाकर तूफान बन गयी थी। लखनऊ के तमाम इमली के दरख्त हमारे स्वतंत्रता सेनानियों के हरियाले स्मारक है जिन पर उन वीर बाँकुरो को फाँसियाँ दी गयी थी। आज भी एन सत्तावन के स्वतंत्रता संग्राम का सबसे बड़ा गवाह लखनऊ ही है।

30 जून, 1857 को लखनऊ का प्रथम युद्ध चिनहट के निकट इस्माइलगंज में लड़ा गया था जिसमें क्रान्तिकारियों ने फिरगियों को मात दे दी थी। उसी रात से रेजीडेन्सी पर हमले शुरू हो गये थे तत्कालीन अंग्रेज रेजीडेन्ट हेनरी लारेन्स जिसने शहर के नवजवानों पर कहर बरपा किया था उसे क्रान्तिकारियों ने 2 जुलाई 1857 की सुबह गोलियों का निशाना बना लिया और जिसके अगले दिन वह संसार से सिधार गये। उनका ही मजार रेजीडेन्सी में शानों शौकत से खड़ा है।

6 जुलाई 1857 को शहजादा बिरजिस कदर सिंहासन पर

बिठा दिये गये थे और शासन की बागडौर उनकी माँ बेगम हजरत महल के हाथों में थी उनके सहायक दीवान मम्मू खाँ और दीवान शरफुददौला थे। मौलवी अदमद उल्ला शाह भी शहर की लड़ाईयों में बराबर से शरीक थे बेगम ने लगभग 8 महीने लखनऊ पर शासन किया था।

रेजीडेन्सी पर क्रान्तिकारियों का पूरा कब्जा 30 जून 1856 से 25 सितम्बर 1857 तक लगभग 3 महीने (86 दिनों) तक रहा जिसमें सारे यूरोपियन परिवार एक पिंजरे में बंद हो गये थे। कोलिन कैम्पिबेल की मददगार सेना ने कानपुर से लखनऊ आकर उन्हें इस कारागार से मुक्त किया था। इस बीच बेली गारद में 20 जुलाई, 10 अगस्त, 8 सितम्बर और 20 सितम्बर 1857 को घमासान लड़ाईयाँ हुई। रेजीडेन्सी की आखिरी जंग 17 नवम्बर 1857 को लड़ी गयी जिसे मौलवी डंका शाह ने 18 दिनों तक बराबर जारी रखा था। लखनऊ के तमाम इलाके जैसे कोठी आलमबाग, चक्कर वाली कोठी, मारकीन कोठी, बेगम कोठी, खुर्शीद मंजिल, मोती महल, कदम रसूल, बिजली का किला, दिलकुशा बाग, सिकन्दर बाग और मूसा बाग पानीपत का मैदान बन गये थे। 25 फरवरी, सन् 1858 को मूसाबाग के मैदान में बेगम खुद हाथी पर सवार होकर हाथों में तलवार लेकर मैदाने जंग में गयी थीं। बेगम के प्रमुख सेनापति राज जयलाल सिंह, नसरत जंग को कैप्टन आर.साहब की हत्या के जुर्म में चाइना बाजार गेट (प्रेस क्लब) के सामने इमली के पेड़ पर फाँसी दे दी गयी थी और उनका शव सिपुर्द आतिश न करके अंग्रेजों ने वहीं ज़मीन में दबा दिया था। आज उसी जगह उनका स्मारक बना हुआ है।

जनरल नील जिसने कानपुर में निर्दोष जनता का क़त्लेआम किया था उसे 25 सितम्बर, 1857 को लखनऊ की जनता ने शेर दरवाज़े के करीब मार गिराया इसीलिए अंग्रेजों ने उसे नील गेट का नाम दे दिया था जब कि लखनऊ की जनता उसे शेर दरवाज़ा कहना पसन्द करती है। जनरल नील की कब्र भी रेजीडेन्सी के परिसर में मौजूद है।

मेजर हडसन जिसने दिल्ली में आख़िरी मुगल, बहादुर शाह जफ़र के तीन नवजवान बेटों का सर काट कर एक थाल में सजाकर और उस पर कीमती कामदार थाल पोश डालकर लाल क़िले में माता–पिता को नज़र किया था। उसे लखनऊ वालों ने 11 मार्च 1858 को बेगम कोठी में ज़ख्मी कर दिया था और फिर उसे कोठी हयात बख्श (आज का राज भवन) मे रखा गया था जहाँ उसने दम तोड़ दिया उसकी क़ब्र भी बेली गारद में देखी जा सकती है।

मार्च 1858 के पहले हफ्ते में बेगम हज़रत महल नेपाल की तरफ निकल गयीं थीं। लखनऊ की आखिरी लड़ाई 21 मार्च सन् 1858 को सआदतगंज के आगे सालार बाग़ में लड़ी गयी थी। गढ़ी पीर खाँ और अम्बरगंज में उस युद्ध की निशानियां आज भी बाक़ी है। लखनऊ में स्वतंत्रता सेनानियों के नाम से ही मौलवीगंज, दुर्गविजयगंज आदि मोहल्ले है।

आलमबाग की लड़ाई में बेगम अवध की फौजें और डंका शाह के सिपाही बड़ी बहादुरी से लड़े थे तो सिकन्दर बाग में वीरांगना ऊदांबाई ने अपनी वीरता के जो जौहर दिखाए उसकी बहादुरी की प्रशंसा कालिन कैम्पवेल और लेखक पोबर्स मिच्चल ने की है जो अनेक गोरे सिपाहियों को खत्म करके स्वयं शहीद हो गयीं थी।

ये बात और है कि सन् 1857 की जंगे आजादी में अंग्रेज बाजी जीत ले गए, लेकिन विद्रोह की आग कहीं से दबी नहीं थी, वो किसी वक्त का किसी रहनुमा का इंतजार कर रही थी। अगली सदी में भी वतन परस्तों की कारगुजारी का मरकज लखनऊ शहर बना था।

28 दिसम्बर सन् 1916 में लखनऊ काँग्रेस का जलसा इस सर ज़मीने अवध के लिए काबिले नाज़ था। महात्मा गाँधी उसी अवसर पर पहले पहल लखनऊ पधारे थे लखनऊ को इसका भी गौरव प्राप्त है कि इसी शहर के चारबाग स्टेशन पर महात्मा गांधी और पं. नेहरू जीवन में पहली बार मिले थे। काँग्रेस के इस 31 वें

अधिवेशन में नरम दल और गरम दल दोनों साथ–साथ थे। महात्मा गाँधी और पोलक जी बिलकुल अगल अगल बैठे थे उनके साथ थे बाल गंगाधर तिलक जी, श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, श्री रास बिहारी जी, और राजा महमूदाबाद उधर होमरूल के झण्डे श्रीमती ऐनी बिसेन्ट, वाडिया जी और अरण्डेल जी के हाथों में थे।

सन् 1919 में जब महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह सभा बनायी तो अवध में भी सत्याग्रह सभा की बुनियाद बड़ी। असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भिक दौर में बीस अक्टूबर, 1920 को पूज्य बापू लखनऊ पधारे और उस समय लखनऊ शहर गगन भेदी नारों से गूँज उठा था–

पूज्य बापू की जय, अहिंसा हमारा धर्म है

आज़ादी हमारा मंत्र है, गाँधी जी अमर रहें।

7 अगस्त, सन् 1921 को महात्मा गाँधी का लखनऊ में पुनरागमन हुआ। और उन्होंने झण्डे वाले पार्क अमीनाबाद में भाषण दिया था जिसमें एक लाख लोग उन्हें सुनने आये थे और इसी असहयोग आन्दोलन में पंडित जवाहर लाल नेहरू गिरफ्तार हो गये थे। उसके बाद दिसम्बर, सन् 1921 को प्रिंस आफ़ वेल्स का लखनऊ आगमन हुआ तो शहर में जगह जगह हड़ताल और स्वागत का बहिष्कार हुआ। स्वतंत्रता का पावन संदेश लेकर वालेंटियर निकले थे।

ये सच है कि किसी नये सितारे के उदय के लिए ज़रूरी होता है किसी अशान्ति का होना। उस समय अभिनव भारत जन्म ले रहा था इसलिए अशान्ति और पीड़ा अपनी निश्चित भूमिका अदा कर रही थी। नया भारत तेज़ी से करवटें बदल रहा थां इसी के साथ आज़ादी के दीवाने, हमारे क्रान्तिकारी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार को अपनी आरज़ू का एहसास देने के लिए काकोरी ट्रेन डकैती की योजना बनायी थी।

9 अगस्त सन् 1925 की शाम पंडित राम प्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खाँ, राजेन्द्र लाहिड़ी, चन्द्रशेखर आजाद आदि 10 लोग एट (8) डाउन पैंसेजर से शाहजहाँपुर में सवार होकर लखनऊ की तरफ बढ़े– गाड़ी में करेसी का खजाना था जिसके साथ हथियार बन्द सिपाही थे। इन वीर बाँकुरों ने एलान कर के ब्रेकवान पर चढ़कर लोहे के सन्दूक को गिराकर तोड़ लिया।

ये ख़बर आग की तरह फैली और ब्रिटिश साम्राज्य के सिंहासन के पायों पर लपकने लगी जिससे फिरंगी अफसरों की नींद हराम हो गयी। 6 अप्रैल, सन् 1927 को हज़रतगंज के रिंग थियेटर में इस की अदालत हुई और फैसला सुनाया गया। जनता निर्णय सुनने के लिए बेक़रार थी। उधर बेड़ियों की झनकार पर बिस्मिल और उनके साथी आज़ादी के नगमें गाते हुए बढ़ रहे थे–

सरफ़रोशी की तमन्ना, अब हमारे दिल में है

देखना है ज़ोर कितना, बाज़ुए कातिल में है

10 माह यह मुकदमा चला था जिस पर 10 लाख रुपये खर्च हुये थे और फिर सरकारी फैसले पर पंड़ित राम प्रसाद बिस्मिल को गोरखपुर जेल में, रोशन सिंह को इलाहाबाद जेल में और अशफाक उल्ला खाँ को फैजाबाद जेल में 19 दिसम्बर सन् 1927 को फाँसी दे दी गयी।

राजेन्द्र लाहिड़ी को 17 दिसम्बर, 1927 को गोण्डा में फाँसी दी जा चुकी थी। लखनऊ के स्वतंत्रता सेनानी राम कृष्ण खत्री और सभी को लम्बी सजाएँ मिलीं। शचीन्द्र सान्याल को आजीवन कारावास मिला बाद में आज़ाद एल्फ्रेड पार्क इलाहाबाद में बलिदान हुए।

सन् 1928 में साइमन कमीशन हिन्दुस्तान आया जब ये कमीशन लखनऊ पहुँचा तो यहाँ की जनता के होंठों पर साइमन गो बैक... गो बैक... का नारा था। लखनऊ में कैम्प जेल बनाकर हज़ारों देश प्रेमी ठूंस दिये गये लेकिन 25 जुलाई सन् 1934 में महात्मा

गाँधी के आगमन पर झण्डे वाले पार्क, अमीनाबाद में तिरंगा लहरा दिया गया। सन् 1942 की चिन्गारी बनकर जब 'भारत छोड़ो' का 'वीर घोष अवध' में पहुँचा तो लखनऊ में दफ़ा 144 लगा दी गयी। मोती महल पुल पर गिरफ्तारियाँ, होने लगीं। और फिर आयी 15 अगस्त, 1947 की वो चिरप्रतीक्षित बेला जब इन कुर्बानियों के फूल महक उठे। बीसवीं सदी के मध्याह्न में 15 अगस्त, 1947 को भारतवर्ष स्वाधीन हुआ और उस समय पंडित नेहरू ने पुकार कर कहा था–

"आधी रात के गजर के साथ जब संसार सोया हुआ है भारत जागकर स्वतंत्र जीवन का आरम्भ करेगा। इतिहास में ऐसा क्षण दुर्लभ है, अब भारत ने पुनः अपने को ढूंढ़ लिया है।"

स्मरण रहे, 6 अप्रैल, 1984 को अन्तरिक्ष में गए राकेश शर्मा से हमारी पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय इन्दिरा गाँधी ने पूछा था–

"ऊपर से भारत कैसा लगता है"

तो राकेश ने यही कहा था

"सारे जहाँ से अच्छा"

आज हम आज़ाद हैं। हमारा देश आजाद है और इस आजादी के पीछे है एक अविस्मरणीय इतिहास जिसमें लखनऊ का अप्रतिम योगदान है।

□□

लखनऊ में हिन्दी और पत्रकारिता

खड़ी बोली हिन्दी कविता ने अगर दिल्ली में अमीर खुसरो के यहाँ आँखे खोली थीं तो आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्म स्थान लखनऊ को कहना कुछ असंगत न होगा क्योंकि खड़ी बोली हिन्दी की पहली कथा रानी केतकी की कहानी का जन्म लखनऊ में ही हुआ। इस कहानी के रचयिता सैयद इंशा अल्ला खाँ 'इंशा' दरबारे अवध में नवाब सआदत अली खाँ के मुसाहिब थे इसी तरह भारत का पहला डान्सड्रामा 'इन्दर सभा' मिर्ज़ा अमानत लिखित लखनऊ की ही देन है। उर्दू का पहला क्लासिक उपन्यास उमराव जान 'अदा' लखनऊ की देन है जिसके रचयिता मिर्ज़ा हादी रूसवा, मौलवीगंज की 'हवादार मंज़िल' में रहते थे और उनका मकान आज भी बाक़ी है।

अवध कला साहित्य के संदर्भ में कितना सुसम्पन्न है इसे अधिक कहने का कोई प्रयोजन नहीं है सिवा इसके कि मलिक मुहम्मद जायसी (जायस–रायबरेली) का अवधी में लिखा गया प्रेमाख्यानक महाकाव्य 'पद्मावत' ही काफ़ी प्राचीन और प्रबल प्रमाण है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जहाँ अपनी विश्व वन्दित रचना रामचरित मानस की कथा भूमि वाल्मीकीय रामायण से प्राप्त की है वहीं भाषा शैली में उन्होंने जायसी का ही अनुसरण किया है। जन्म भूमि के विवाद को छोड़ भी दें तो गोण्डा जनपद का शूकर क्षेत्र तुलसी के गुरु का साधना स्थल रहा है और अयोध्या में तो तुलसी मन प्राण से रमे हुए थे। जहां बैठकर उन्होंने रामचरित मानस का सृजन किया। उन्होंने स्वयं लिखा है "अवधपुरी यह चरित प्रकासा"। अवध में बाड़ी सीतापुर के नरोत्तम दास जी का खण्ड काव्य सुदामा चरित हिन्दी जगत का रत्नाभूषण है उन्होंने अपने काव्य में अपनी गोमती को अपने साथ रखा था उन्होंने सुदामा की ग़रीबी के चित्रण में "गोमती की माटी की न सुद्ध कहूँ माटकी" लिखा है।

पुराने संदर्भ में लखनऊ में ही शाहजहाँ कालीन सूरदास

लखनवी हुए जिन्होंने 'नल दमन' काव्य की रचना की थी। बादशाह गाज़ीउददीन हैदर के शासन काल में बेनी प्रवीन हिन्दी के उल्लेखनीय कवि हुए जिन्होंने बादशाह के मंत्री राजा नवल कृष्ण की कीर्ति में 'नवरस तरंग' लिखी और 'शृंगार भूषण' की रचना की। इसी क्रम में कवि बेनी भट्ट का नाम भी लिया जायेगा जिनको महाराजा टिकैत राय का आश्रित कहा जाता है क्योंकि उन्होंने 'टिकैत राय प्रकाश' ग्रन्थ लिखा और 'रस विलास' की रचना की।

नवाबी दौर में शास्त्रीय गीत संगीत का सम्पूर्ण आधार हिन्दी का ही रहा है ख़याल, टप्पे, ठुमरी, दादरे सब देशीय हिन्दी की 'बोल'– 'बानगी' से सजे थे। तमाम ठुमरियाँ जो लखनऊ में अख्तर पिया, (नवाब वाजिद अलीशाह) ललन पिया, कदर पिया, सनद पिया (बिन्दादीन महाराज) द्वारा रची गई, अवधी– ब्रज की गंगा जमुनी छवि लिए हुए हैं और जाने आलम कृत 'नाजो में काफी कुछ संकलित हैं। जाने आलम की सुप्रसिद्ध रचना "बाबुल मोरा नैहर छूटोहि जाय" तो बेजोड़ भावात्मक लोकप्रिय विदा गीत है। जिसे कुन्दन लाल सहगल ने अपनी आवाज़ से दूर–दूर तक पहुंचा दिया।

लखनऊ चौक के शाह बिहारी लाल जी के पौत्र शाह कुंदन लाल, शाह फुंदन लाल क्रमशः ललित किशोरी, ललित, माधुरी नाम से ब्रज भाषा में रचनाएँ करते थे। ये दोनों सन् 1913 में वृन्दावन चले गये थे, सखी सम्प्रदाय में ही उन्हें ये उपनाम मिले थे। कई भाग में अष्टयाम उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने खड़ी बोली में झूलना छन्द भी लिखे हैं।

भारतेन्दु युग के उत्थान के साथ ही लखनऊ में हिन्दी पत्रकारिता का बीज पड़ गया था जिसके परिणाम स्वरूप सन् 1881 में 'भारत दीपिका' प्रकाशित हुई जो लखनऊ की प्रथम पत्रिका थी 1883 से दिनकर प्रकाश, 1886 से सुख संवाद, 1889 से कायस्थ उपदेश, बुद्ध प्रकाश, 1895 से जैन समाचार और 1897 से चन्द्रिका पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

मुंशी नवल किशोर जी का प्रेस लखनऊ का वो साहित्यक तीर्थ बन चुका था, जहाँ से उर्दू– हिन्दी की अगाध पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। सन् 1901 में नवल किशोर प्रेस से 'अवध समाचार' (हिन्दी) पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। जिसके सम्पादक बने गोपीलाल माथुर। मुंशी नवल किशोर जी 23 नवम्बर 1858 को लखनऊ आए थे उनका पहला छापाखाना रकाबगंज में खुला था और यहीं एशिया का सबसे पहला प्रेस था। १८५८ से उर्दू अवध अख़बार छपना शुरू हुआ था। और फिर उन्होंने अपने पत्रकारिता उद्योग से लखनऊ को एशिया में सर्वोच्च स्थान दिला दिया। उन्हें कैसरे–हिन्द का ख़िताब दिया गया था।

1908 में लखनऊ से ही साप्ताहिक 'आनन्द' निकलने लगा था जिसे पंडित महेश नाथ शर्मा देख रहे थे। यही 1917 से 'दैनिक आनन्द' बन गया था। उधर 1922 से नवल किशोर प्रेस से हिन्दी की मूर्धन्य पत्रिका "माधुरी" और 1927 से 'सुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिसके सम्पादक पंड़ित रूप नारायण पाण्डे जी बने, जो स्वयं श्रेष्ठ कवि थे 'वन विहंगम', 'पराग' और 'दलित कुसुम' उनकी विख्यात रचनायें हैं।

'माधुरी' के सम्पादन का कार्य भार पंड़ित मातादीन शुक्ल 'नरेश जी' (श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के पिता) ने भी सम्भाला जो ब्रज भाषा और खड़ी बोली के सुकवि थे।

1928 से मुंशी प्रेमचन्द्र माधुरी का सम्पादन कार्य देखने के लिए लखनऊ में आकर हीवेट रोड अमीनाबाद तथा मारवाड़ी गली में रहे महाप्राण निराला जी, लालकुआं और हीवेट रोड पर रहे जहां उन्होनें निरूपमा की रचना की। इसी बीच श्री दुलारे लाल भार्गव जी ने गंगा पुस्तक माला, लाटूश रोड से मासिक 'सुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था। 1938 में प्रसिद्ध साहित्यकार व क्रान्तिकारी यशपाल जी ने विप्लव का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था उन दिनों साप्ताहिक 'संघर्ष' भी बहुत लोकप्रिय हुआ था। हिन्दी गद्य को नया प्रभात देने वाले अवध के शिरोमणि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

(दौलतपुर रायबरेली) ने 'सरस्वती' का सम्पादन किया और खड़ी बोली कविता की नींव रखी उन्हें पद्य रचना की नई प्रणाली का प्रवर्तक भी कहा जा सकता है।

सन् 1934 में पं अमृतलाल नागर और मूर्धन्य पत्रकार श्री ज्ञानचन्द जैन ने यहां 'सुनीति' पत्रिका का प्रकशन किया था। लखनऊ जो सदियों से साहित्य सेवा का अनवरत गढ़ रहा है, तोरन देवी शुक्ल 'लली' रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी', स्नेहलता स्नेह, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, रमादेवी श्रीवास्तव 'रमा', गिरिजा दयाल गिरीश' शारदा प्रसाद 'भुशण्डि', फूलचन्द जैन 'पुष्पेन्दु', दिवाकर जी, रघुवीर सहाय, शिव सिंह 'सरोज' जी, मिश्रबन्धु, बिमलकवि, बालमुकुन्द बाजपेयी, पंड़ित अमृत लाल नागर, पं. श्री नारायण चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा जी, यशपाल जी, शिवानी जी की कर्म भूमि रहा है। आज भी लखनऊ श्री लाल शुक्ल जी, श्री मुद्रा राक्षस, पद्म श्री के.पी. सक्सेना जी, डॉ. लक्ष्मी शंकर मिश्र 'निशंक', योगेश दयालु, नरेश सक्सेना, डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित, डॉ. रमा सिंह, डॉ. कंचन लता सब्बरवाल, डॉ. परमानन्द जड़िया जी, डॉ. विद्या बिंदु सिंह, डॉ. मधुरिमा सिहं, कामतानाथ, श्री के.एन. कक्कड़, कुँवर नारायण, सुशील सिद्धार्थ वाहिद अली वाहिद जैसे अनेकानेक साहित्यकारों से महिमा मण्डित है।

बीसवीं सदी के अरुणोदय में (1915) में लखनऊ के एक अल्पज्ञात कवि वैद्यंनाथ मिश्र 'विह्वल' का एक छन्द स्वयं अपने समय का दर्पण है।

छैलवा छबीले की छटान छवि छीनी छाप
छहरि रही है, छतियन में छबीली के
चन्द्र चाँदनी में चारु चमकि रहे हैं चरव
चतुर चितेरे चित चाहक चुटीली के
रास हू रचाई रंगभूमि में रसिक राज
रंग रूप रमि रहे विह्वल रंगीली के
काजर की कोठरी में कैसेहु, कहू ते जाय
आउब कठिन बिन कालिरव कटीली के (माधुरी से)

पत्रकारिता का नया गढ़ प्रेस क्लब

लखनऊ का कैसरबाग नगर का हृदय स्थल है जिसका निर्माण सन् 1850 में अवध के अन्तिम शासक वाजिद अली शाह ने उस ज़माने में अस्सी लाख की लागत से किया था जिसमें चारों तरफ चमन दर चमन रंग ओ रौनक, खुशबू और खूबसूरती के जाल बिछे थे। ये सारा इलाका छतर मंजिल क्षेत्र, 'रेजीडेंसी सीमा, लाल बाग और मेंडू खाँ रिसालदार की छावनी से घिरा हुआ था जिसमें शाहंशाह मंजिल, वज़ीर मंजिल, जर्दकोठी, परीखाना, बइयत उल इंशा, खास महल, बारादरी, कैसर पसंद चौलक्खी कोठी, जिलौखाना, लंका जैसे महलात थे। इस इलाके की घेराबन्दी में दो लाखी दरवाजे, एक सदर दरवाजा, एक घसियारी मण्डी फाटक ओर एक चीना बाजार फाटक था। चीना फाटक बादशाह बाग़ के फाटक की तर्ज पर बना था जिसमें राजपूत मुगल स्टाइल के अलावा गाथिक शैली का प्रयोग भी था। फाटक के मुकुट पर अवध दस्तूर का खिला हुआ सूरज बनवाया गया। ब्रिटिश दौर में उसे चायना बाजार गेट कहा जाने लगा और वही नाम आज तक विद्यमान है। चाइना बाज़ार इसी फाटक के सामने था जिसमें कीमती विदेशी सामानों की मार्केट थी, इनमें, कपड़े, कालीन, झाड़ फानूस, फर्नीचर, क्राकरी, घड़ियाँ, चीनी मिट्टी के खिलौने, फूलदान और तमाम सजावटी सामान बिकते थे जो अनेक योरोपियन देशों, मध्य देशों तथा चीन, जापान के बने होते थे, लेकिन उसका एक सामूहिक सांकेतिक नाम चीना बाज़ार था।

उत्तर प्रदेश में प्रेस क्लब का उदय

1956 में मोती महल लान में इंडियन फेडरेशन आफ वर्किंग जर्नलिस्ट (आई.एफ.डब्लू.जे.) का एक प्रतिनिधि सम्मेलन हुआ। उस समय डॉ. सम्पूर्णानंद प्रदेश के मुख्यमंत्री थें। बनारसीदास चतुर्वेदी जी को संस्था का प्रेसीडेंट बनाया गया था। उसी प्रतिनिधि सम्मेलन में प्रेस क्लब और उत्तर प्रदेश पत्रकार यूनियन के लिए स्थान अर्थात

भवन की माँग की गयी थी। उस दौर में चाइना बाज़ार गेट एकान्त में एकाकी खड़ा था। उस ज़माने ये इलाका सुनसान था अतः 18 नवम्बर 1956 को डॉ. सम्पूर्णानन्द ने चाइना बाजार गेट को जो भुतहा गेट भी कहा जाता था, पत्रकारों के लिए दे दिया। कालान्तर में फाटक को घेरकर एक कमरा बनाया गया उसके बाद वर्ष 1978 में श्री रमेश चन्द्र श्रीवास्तव ने यहाँ दो कमरे और बनवाये।

ये कुछ कम गौरव की बात नहीं कि इस प्रेस क्लब में अब तक श्री देवगौड़ा को छोड़कर सभी प्रधानमंत्री पधार चुके हैं। देश के दिग्गज नेता मुख्यमंत्री 'मीट द प्रेस' कर चुके हैं। सभी राजनीतिक दल और शैक्षिक तथा सामाजिक संस्थाएँ 'प्रेस वार्ता' सम्पन्न करती रहती हैं। इसके तत्वाधान में खेलकूद, साहित्यिक राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यक्रम भी आयोजित होते रहते हैं। इस क्लब में पत्रकारों और उनके परिवार के लोगों की उल्लेखनीय सहभागिता होती रहती है।

इस प्रेस क्लब से अब तक पुराने पत्रकारों में सर्वश्री एस.एन. घोष (पायनियर) इशरत अली सिद्दीकी (कौमी आवाज) कृष्ण कुमार मिश्रा (नवजीवन) बिशन कपूर (ब्लिट्ज), एम. चलपति राव (नेशनल हैरल्ड) तरूण कुमार भादुड़ी, सत्यपाल प्रेमी, रमेश चन्द्र श्रीवास्तव (नवजीवन), रवि मिश्रा (नवजीवन) के. एल. मुकर्जी, सलाउददीन उस्मान, हामिदी, लक्ष्मी कान्त तिवारी, एस.पी. निगम, एच.के.गौड़, शौकत उमर, ओसामा तलहा, जावेद अंसारी, ए.एन.सप्रू, एस.सी.काला जैसे अनेक स्वनामधन्य पत्रकारों की सहभागिता रही है। लखनऊ में पत्रकारिता के क्षेत्र में अशोक जी, शिव सिंह सरोज जी, अखिलेश मिश्र जी, पद्मश्री वचनेश त्रिपाठी आनन्द मिश्र 'अभय' तथा सिने पत्रकारिता के लिए रामकृष्ण जी हमेशा याद किए जाएंगे। पत्रकारिता ने ही हमारे प्रधान मंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी जी को लखनऊ में बरसों बसाए रखा था और तब वो बिरहाना, मारवाड़ी अली, अमीनाबाद तथा सदर में रहे है।

□□

लखनऊ फिर ग़नीमत है

जाने आलम के वक्त में मुंशी अलामाउद्दीन अहमद अकबराबादी ने लखनऊ के लिए बस इतना ही कहा था :

"लखनऊ हिन्दुस्तान की आँखों का तारा है"

लेकिन ये कोई नई बात नहीं थी। लखनऊ को मुहावरों और अशआरों के पैमाने में उतारने की बात पहले भी थी और आज भी है। सदियों से लखनऊ के सम्मान में शेर कहे गये हैं और रूबाइयां पढ़ी गयी है। जैसे कि मीर अनीस के दादा मीर हसन ने नवाब आसफुदौला के लिए कहा था :–

मिटा दी उसने यां की सब कुदूरत

बनाई लखनऊ की एक सूरत

या फिर लखनऊ की तारीफ में ये कसीदा कहा गया :–

अर्श से हूरो मलक तक आ रही आवाज़ है

लखनऊ की सरज़मी पर हरबशर को नाज है

हजरत "नासिख" ने लखनऊ को उर्दू अदब का गहवारा बनाया था तो फिर लखनऊ के वास्ते वो क्यूं न क़सीदा पढ़ते। मशहूर शेर जिसे जाने आलम के जिक्र के साथ याद किया जाता है दरअस्ल नौबत राय 'नज़र' की नज्म़ का प्रसिद्ध हिस्सा है–

लखनऊ हम पर फिदा, और हम फिदाए लखनऊ

क्या है ताक़त आस्मां की, जो छुडाए लखनऊ

नवाब सआदत अली खां के दरबारी शायर "इंशा" ने लखनऊ को परिस्तान से कम नहीं समझा है।

हज़ारों देवियों को यां की, परियों ने पछाड़ा है।

ये लखनऊ क्या राजा, इन्दर का अखाड़ा है।।

उस जमाने में इंशा और मसहफी में खूब चलती थी। इंशा लखनऊ के लिए लफ़्ज बांध रहे थे तो भला "मसहफी" काहे को चुप रहते। गरज़ ये कि उन्होंने अपने ढंग से लखनऊ को हसीनों और नाज़नीनों का नगर करार दिया –

क्यूं न दिल नज़ारगी का जाये लोट

लखनऊ में हुस्न की बंधती है पोट

रजब अली बेग "सुरूर" ने लखनऊ की सुखनवरी का दर्जा बुलन्द करते हुए कहा–

बुलबुले शीराज़ को है फ़ख्र नासेख़ पर 'सुरूर'

इस्फ़हान इसने किए हैं कूचा हाए, लखनऊ

'सुरूर' का ही एक शेर और है–

सुना रिजवां भी जिसका खोशा चीं हैं

वो बेशक लखनऊ की सरज़मीं है

नासेखने अपने कानपुर प्रवास में बड़ी हसरत से लखनऊ को इस तरह याद किया था :–

कब लखनऊ सा शहर कोई है किनारे गंग
मिल जाये गोमती में तो है, इफ्तखारे गंग

यही नहीं जब दिल्ली वालों ने अपनी कलम और शेरगोई का दावा किया तो "अमीर मीनाई" ने उसका जवाब इस तरह दिया –

दावा सुख़न का लखनऊ वालों के सामने
इज़हारे बू एक मुश्क, ग़ज़ालों के सामने

"मिर्जा फसीह" ने लखनऊ को कुल हिन्दोस्तान में वो जगह दी है जहां आठों पहर, बारहों महीने बहारों का डेरा है :

लखनऊ अब सब्ज़दारे हिन्द है

दम बदम अफ़्ज़ूं बहारे हिन्द है

लखनऊ की बहार को "नासिख" ने अच्छी तरह कलमबन्द किया है और कुछ इस तरह :–

गुल से रंगीतर है ख़ारे लखनऊ

नशे से बेहतर खुमारे लखनऊ

फिर रहे हैं गुल हज़ारे लखनऊ

है चमन हर रह गुज़ारे लखनऊ

है तसब्वर में बहारे लखनऊ

इसी तरह "सहर" ने इस गुलज़ार शहर और यहां के निवासियों के लिए दिल से दुआ दी है :–

"खुदा आबाद रखे लखनऊ के खुशमिजाजों को

हर एक घर ख़ाना शादी है, हर एक कूचा है इशरत का"

उस वक्त लखनऊ को हिन्दोस्तान का चमन कहा गया था तो क़ैसरबाग लखनऊ का उपवन था। वाजिद अली शाह के सपनों का ये स्वर्ग कभी अपने बाग़ बगीचों, सुन्दर इमारतों और बेहतरीन रखरवाव के लिए मशहूर था। उस क़ैसरबाग की कुछ झलक या तो तस्वीरों में कैद है या किताबों में दर्ज है :

मुनीर लखनऊ में चलके देखो कैसरबाग

हवाए गुलशने जन्नत, अगर दिमाग में है

किसी ज़माने में कैसरबाग ललित कलाओं का घर था, यहां तक कि साहित्य, संगीत, कला और सौन्दर्य इसकी पहचान बन चुके थे :–

किसके चमके चांद से, रूख़सार कैसरबाग में।

चांदनी है साय ए, दीवार कैसरबाग़ में।।

और

देखे हैं हमने सैकड़ों गुलशन जहान में

लेकिन नही जवाबे गुलिस्ताने लखनऊ

राजा नवाब अली खां 'सहर' जो कि अकबरपुर (सीतापुर) के तालुकेदार थे हारमोनियम बजाने में अपना सानी नहीं रखते थे उनका ही मशहूर शेर है–

गुलरुखों से गुलसितां है कूचा हाए लखनऊ

क्यूं न दिल मानिन्दे बुलबुल हो फ़िदाए लखनऊ

फारसी के अशआर :

लखनऊ के हुस्न को लेकर सिर्फ उर्दू में ही नहीं फारसी में भी बहुत से शेर कहे गये है। ईरान से लखनऊ आए हुए एक मेहमान शायर "नातिक" ने ये तक कह दिया कि "लखनऊ की भीख दूसरी जगह की सल्तनत" से अच्छी है :–

गदाए लखनऊ बर सल्तनत

रबअ मस्कून फौके दरूद

मिर्ज़ा कतील ने लगभग दो सदी पहले लखनऊ को लेकर कहा था :–

'बैत अल खला लखनऊ बेहतर उस्त अज़ फैजाबाद'

"मुफती साहब" ने कलकत्ते को बड़ा और शानदार शहर मानते हुए भी उसके मुकाबले में लखनऊ की कद्र की है :–

हस्त दर कलकत्ता गो सीमोजरी

कीमिया बाशद तराबे लखनऊ

हर की रफ़्त अज लखनऊ ख्वाबश न बुर्द

दर खयाले खुर्द ख्वाबे लखनऊ

सारे मुल्क में लखनऊ को निराला मानने वाले जनाब 'आरिफ' का कलाम पेश है –

हिन्दुस्तां न दीदम मौज दिलचस्प चू लखनऊ

अगरचे दर तरीके सरबात चना रफ्तम

लखनऊ पर अपना दावा दिखाते हुए लखनऊ में ही अबाद यगाना यास चंगेजी अजीमा़ बादी जी फरमाते है :–

याराने चमन रंगोबू मुझसे है

तुम क्या होगे, लखनऊ मुझसे है

शहर का दर्द :

वक्त के साथ बदलती दुनिया के इन्कलाब ने जब लखनऊ को लखनऊ न रहने दिया तो लखनऊ के चाहने वालों के दिलों से आह क्यूं न निकलती। देखिए ''मीर अनीस'' ने किस छटपटाहट के साथ ये दुआ की है :

'क्यूं कर कोई गमज़दा न फरियाद करे

जब मुल्क को यगनीम बरबाद करें

मांगो ये दुआ कि फिर खुदा बन्दे करीम

उजड़े हुए लखनऊ को आबाद करे

फिर किसी ने इस तरह फरियाद की :–

'मदद कीजिए लखनऊ लुट गया

ख़बर लीजिए लखनऊ लुट गया'

हजरत ''नासिख'' को अपने कलाम और हुनर पर बड़ा नाज था और उन्होंने भी अपने आत्म सम्मान को ऊँचा रखते हुए लखनऊ की बरबादी पर आंसू बहाए हैं।

सुनसान मिस्लबादी गुरबतेह लखनऊ

शायद कि नासिख़ आज वतन से निकल गया

और जब "अनीस" ने ये देखा कि लखनऊ के तहजीबो अदब भी करवट बदल रहे है तो उन्हें कहना ही पड़ा।

'उलट गया न फकत लखनऊ का एक तबका

अनीस मुल्के सुखन में भी इनकलाब आया'

"मुनीर" ने तो दावा किया है :

'फिर लखनऊ में आई दुबारा न आज तक

जन्नत में क्या बहार गई ऐशबाग से'

लखनऊ के साथ न जाने कितनी यादें और कितने ही लोगों के दिल का दर्द जुड़ा है। इनमें जाने आलम के दिल की पुकार अपने आप में एक सल्तनत का इतिहास समेटे हुए है :

ये तमन्ना न रहे जीस्त में ऐ बारे खुदा

फिर मुझे लखनऊ दुनिया में दिखाए गुरबत

लेकिन नयी रौशनी की आरजू में आंसुओं के चराग जलाने वाले मजाज को उम्मीद थी–

अब इसके बाद सुबह है, और सुबहे नौ मजाज

हम पर है ख़त्म शामे ग़रीबाने लखनऊ

मजाज के बहनोई जां निसार अख्तर साहब ने अपनी प्रेमिका और पत्नी सफिया (शबाना आजमी की सास तथा जावेद अख्तर साहब की माँ) के मरने पर एक नज़्म कहीं थी जो लखनऊ से ही शुरू होती है :–

लखनऊ मेरे वतन, मेरे चमन ज़ारे वतन

तेरे गहवारए आगोश में, ऐ जाने बहार

अपनी दुनियाए हसीं दफ़न किए जाता हूँ

तूने जिस दिल को धड़कने की अदा बख्शी थी,

आज वो दिल भी यही दफ्न किये जाता हूँ

(निशातगंज कब्रस्तान में सफ़िया जी की कब्र पर लिखा हुआ है)

शायरों ने बड़ी तकलीफ़ के साथ लखनऊ के लिए ये अशआर कहे है :–

अहदे माज़ी के सुनहरे ख्वाब की

यादगारों का शहर है लखनऊ

X X X

बाक़ी न अब अदब है, न शीरीनिए ज़बां

पहले जो लखनऊ था, वो अब लखनऊ कहां,

यादों के साए :

खैर वो लखनऊ तो बाकी नहीं रहा, लेकिन उसका मीठा–मीठा ख़याल उसकी दिलफरेब यादें खूब–खूब बाकी रही है चाहे देश में हों या परदेस में किसी को भी इस नगर की साहित्यिक सुगंध भुलाए नहीं भूली और जब उसका खयाल आया तो उसकी आंखे भीग उठीं–

मिस्मार हो नहीं सकती,

वो इल्मी मजलिसें खावर

रूला देता है याद आता है

जिस दम लखनऊ अब भी

और तो और लखनऊ के बिना जीने का लुत्फ ही क्या है ऐसा कहने वाले भी लखनऊ के कुछ आशिक़ हुए है :–

नहीं जब लखनऊ तो, 'नासिरी– क्या लुत्फ जीने का

वतन से हम बसाने दहर, आ मुल्के अदम निकले

उनमें ही थे नवाब वाजिद अली शाह जिन्होंने लखनऊ के साथ–साथ अपने जीने का कुल सामान छोड़ दियाये कहते हुए :

जब छोड़ चले लखनऊ नगरी...

नए दौर के शायरों ने भी लखनऊ से दूर होकर लखनऊ को इस तरह उठकर याद किया है :

लखनऊ क्यूं याद आता है मुझे

अव्वलीं ख्वाबे मुहब्बत की तरह

आख़िरी तदबीरे राहत की तरह

लखनऊ का अतीत और वर्तमान एक खूबसूरत दोहे में इस तरह कलमबन्द किया गया है :

लखनऊ लाखों में एक था, भरे पड़े है लेख

पढ़ा था जो भी, वो सब सच था, अब जो है वो देख

लखनऊ की तहजीब और तारीफ का कोई सिरा नहीं है। शहर लखनऊ के लिए कहने वाले ये कह कर कलम रख दते हैं:

'कोई क़िस्सा मुझको खुश आता नहीं

हां मगर एक दास्ताने लखनऊ'

तो आज भी लखनऊ आने वाले इतना ज़रूर कह जाते हैं–

'खुदा आबाद रखे लखनऊ को फिर ग़नीमत है,

नज़र कोई न कोई अच्छी सूरत आ ही जाती है।'

□□

कला और कारचौबी

उर्दू में एक कहावत है

"लिखें मूसा पढ़ें खुदाय"

कहा जाता है किसी ज़माने में "कोहेतूर" की शिलाओं पर खुदा ने अपने दस आदेश लिखे थे, जिन्हें हजरत मूसा ने पढ़ा था। उसी सन्दर्भ के इस उलटवासी फिकरे में भी बड़े पते की बात कही गयी है, किसी ने अपने महबूब को जो खत लिखा तो वो इस कदर खुशखत था कि उसकी लिखावट पर पढ़ने वाले ने अपना सिर पीट लिया और यही कहा–

लिखें मू (बाल) सा, पढ़ें खुद आय

अर्थात वो अगर बाल जैसा महीन लिखते हैं तो बराए मेहरबानी खुद ही आकर पढ़ें। मतलब ये कि ख़त लिखना भी किसी कला से काम नहीं है।

खत लिखने भेजने का चलन कितना पुराना है कहा नहीं जा सकता क्योंकि ये इश्किया परवाजें, उड़ानें, एयर मेल या डाकगाड़ी की मोहताज नहीं रहीं, डाकिए और कासिदों की पहुँच के पहले से ये उड़ानें भरी जाती रही हैं। आदमी ही नहीं ख़तों की इस दौड़ती कहानी में परिन्दें, चरिन्दें भी बखूबी शामिल रहे हैं। दमयन्ती के प्रेम पत्रों को हंस, नवाबजादियों के ख़तों को कबूतर तो नेपोलियन के पर्चो को कुत्ते अपनी मंज़िल तक पहुँचाने में कोई कसर नहीं उठा रखते थे भले ही इनकी राह में हज़ार मुश्किलें आई हों जैसे–

'ख़त कबूतर किस तरह, ले जाए बामे यार पर
पर कतरने को लगी हैं, कैंचियाँ दीवार पर'

तो लीजिए जवाब ये है–

ख़त कबूतर इस तरह ले जाए, बामे यार पर
पर ही पर नामा लिखा हो, पर गिरें दीवार पर

लेकिन नहीं, जनाब, इस ख़तबाजी की हदें इससे भी आगे हैं। बेजुबान ही नहीं बेजानों तक ने कहने वाली बातें कह डाली हैं। एक ज़माना था जब हल्दी की गाँठ, लाल धागे, पीले चावल और कमल के फूल ही अपनी बातें समझा लेते थे और सच पूछिए तो आज भी वो पूरी तरह भुलाए नहीं जा सके हैं और इस्तेमाल में आते हैं। शायद ये नौबत तब पहुँची हो जब ख़त लिखना भी दूभर हो–

'हाले दिल यार को लिखूँ क्यूँ कर

हाथ दिल से जुदा नहीं होता'

ख़त के इस सफ़र में एक से एक मंजर आए है कि लिखने वालों ने इस तरह दावे भरे हैं।

'नामे को पढ़ना मेरे, ज़रा देखभाल के

कागज पे रख दिया है, कलेजा निकाल के'

या, फिर इस अन्दाज में पेश आए कि–

'सियाही आँख की लेकर मैं नामा तुमको लिखता हूँ

कि तुम नामे को देखो और तुम्हें देखें मेरी आँखें'

मगर ख़त को पाने वाले की तबियत का क्या कहना वो तो बड़ा ही बेमुरव्वत निकला–

'मेरा ख़त उसने पढ़ा, पढ़ के नामाबर से कहा

यही जवाब है इसका "कोई जवाब नहीं"

अब क्या था लिखने वाला ही लाजवाब हो के रह गया तब ही तो मिर्ज़ा गालिब ने कहा था–

'क़ासिद के आते आते, खत इक और लिख रखूँ

मैं जानता हूँ क्या वो, लिखेंगे जवाब में'

ऐसे ही बुरे वक्तों में सौदाई लोग क़ासिद के गले से लिपट कर रो देते हैं और पूछते हैं–

'नामावर तू ही बता, तूने तो देखें होंगे।
कैसे होते हैं वो ख़त, जिनका जवाब आता है,'

मगर ऐसे भी समझदार बहुत से आशिक गुजरे हैं कि जब उस खत को वापस पाया तो बोल उठे–

'दोनों का एक हाल है, ये मुद्दआ हो, काश
ख़त उसने मेरा भेज दिया है, जवाब में'

इन खतों को लिख मारना तो बड़ा आसान है मगर खत के खतरों से निपटना ज़रा मुश्किल होता है।

'किसी को भेज के खत हाय, ये कैसा अजाब आया?
कि हर एक पूछता है नामाबर आया? जवाब आया?'

खतों की तिजारत में कभी कासिदों की भी बड़ी धूम रहा करती थी मगर वो हज़रत भी कुछ कम नहीं हुआ करते थे–

'दोस्त के धोके में उसने, दे दिया दुश्मन को खत
नामावर ऐसा मेरा, आँखों का अन्धा हो गया।'

इस तीसरे यानी ग़ैर की हस्ती ने तो हमेशा ही उर्दू शायरों का जिगर जलाया है।

'लिखो सलाम ग़ैर के खत में, गुलाम को
बन्दे का अब सलाम है, ऐसे सलाम को'

या फिर ये शेर मुलाहिजा हो–

'तुम्हारे खत में नया इक सलाम किसका था
न था रकीब तो आखिर वो नाम किसका था'

उन्हें ख़तों में कोई दिलचस्पी नहीं है ऐसा भी नहीं है। रक़ीब का खत बाकायदा पढ़ा जा रहा है और वो भी किस बहाने से–

'ख़त गैर का पढ़ते थे, जो टोका तो वो बोले
अखबार का पर्चा है, खबर देख रहे हैं।'

अब आप खुद ही सोचिए ऐसे मौकों पर क्या गुजरती होगी

"दिले नाशाद पर,। ख़ैर.... माशूक की बेनियाज़ी की भी तमाम अदाएँ उर्दू शायरी में पाई गयी हैं।

'क़ासिद मिला जब उनसे, वह खेलते थे पोलो
ख़त रख लिया ये कह कर "अच्छा सलाम बोलो"

ख़त लिखने वाले को जवाब मिलता ही न हो ऐसा भी नहीं था,

जवाब भी आता था मगर हाए–

'ये आधी रात को उनका जवाब आया है
हम आज आ नहीं सकते, अब इन्तजार न हो'

ख़त लिखने में शायरों ने अगर दीवान के दीवान रच डाले हैं तो अपना पयामे मुख्तसर कहने में भी उनका सानी नहीं–

'कासिद पयामे शौक को देना बहुत न तूल
कहना फकत ये उनसे कि "आँखें तरस गई"

ख़त के जवाब में क्या आकर्षण है ये तो हर कोई जानता है किसी भी सूरत उस नियामत को हासिल करने की हमेशा बेशुमार कोशिशें की गयी हैं–

'बरसों से कान पे है क़लम इस उम्मीद पर
लिखवाएँ मुझसे ख़त, मेरे ख़त के जवाब में'

ये तमन्ना जब रंग लाई और खुदा–खुदा करके ख़त आया तो बड़ा सितम ये हुआ कि

'लेके ख़त उनका किया जब्त बहुत कुछ लेकिन
थरथराते हुए हाथों ने भरम खोल दिया'

और खत पाने के बाद भी तसल्ली न हुई

'तेरा खत दिल की मायूसी के उस आलम में आया है
कि अब ये भी मेरे ग़म का मदावा कर नहीं सकता'

(मदाका = उपचार)

इसका मतलब ख़त लिखना उन्हें भी खूब आता है न लिखें तो बात दूसरी और अगर इस तरह माहपारों के खत आते न तो मिर्ज़ा गालिब के घर से निकलते कहाँ से–

'चन्द तस्वीरें बुतां, चन्द हसीनों के खतूत
बाद मरने के, गेरे घर से ये सामां निकला'

ख़त के किस्से की अब वो हैसियत बाक़ी नहीं रही, क्योंकि अब वो खुशबूदार खत चोरी–चोरी नहीं चलते, खुले आम पसीना बहाते घरों, घरों, दफ्तरों, दफ्तरों, डाकियों, चपरासियों, कोरियर, स्पीड पोस्ट के हाथों चलने लगे। ये खुशबूदार ख़त वो थे जिनके लिये मशहूर है कि–

'मिट गये मेरी उम्मीदों की तरह हर्फ़ मगर
आज तक तेरे ख़तों से तेरी खुशबू न गई'

खत से लोग अब दस्तख़त पर ज्यादा ध्यान देने लगे दरअसल ख़त किताबत ने अपना रूमानी जामा उतार कर तिजारती पैजामा पहन लिया है।

कागज़ की कमी भी इस दास्ताने खत में आड़े आ पड़ी है दूसरे, लिखने वालों ने लिखने के लिए छोड़ा ही क्या है–

'बन गया शौक के मज़मूँ से कबूतर कागज़
खुद बखुद यार तलक जायेगा, उड़कर कागज़
ख़त पे ख़त मैंने लिखे, इसकी सबा, शाहिद है
उड़ते फिरते हैं तेरे कूचे में, अक्सर कागज़
इस कदर यार को खत लिखे हैं, हमने गोया
अब शहर में नहीं होता है मयस्सर कागज़

लखनऊ हैण्डी क्रैफ्ट पर शब्दों की कारचौबी

जिस तरह हर नदी का पानी अलग होता है उसी तरह हर शहर का मिजाज़ भी अलग होता है। किसी नगर की जो ज़िन्दा

तस्वीर हमारी निगाहों में आती है उसके पीछे उसकी संस्कृति, इतिहास, इमारतें उसके बाग़, फूल, गलियाँ, बाजारें, व्यंजन, मेहमानदारी, कला शिल्प, दस्तकारी, अदब, फनकारी, उसकी ज़बान और प्यार भरी सौग़ातें होती है। हमारे लखनऊ में कहा जाता है –

"उनके हथों की हिफ़ाज़त करता है
जिनके हाथों में हुनर रहते हैं"

लखनऊ के स्वभाव में जहाँ हर उद्योग के पीछे उसकी शालीनता छिपी है, उसका शऊर खड़ा है वहीं उसने अपने सोच का सोना और अपनी ज़बान का जादू दूसरों तक पहुँचाने में कोई कसर नहीं रखी है। हम अगर लखनऊ के हैण्डीक्रैफ्ट, लोक शिल्प और सज्जा–सामानों की दुनिया देखें तो वहाँ भी उसका एक अलग मुस्कराता चेहरा मिलेगा, कुछ मोहक बातें मिलेंगी, कुछ रोचक शब्द मिलेंगे और मिलेगें दिल को जीत लेने वाले प्यार भरे सन्देश।

आज भी मेरे स्टडी में काली पालिश वाली मिट्टी की एक तश्तरी रखी है। भूरी और काली पालिश के मृद्भाण्डों की हज़ारों बरस पुरानी परम्परा अभी यहाँ सूरज कुण्ड के किनारे लगने वाले गोमती नहान के मेले में बाकी है। कार्तिक पूर्णिमा के उसी मेले में मुझे एक कसग़र (पाटरीज बनाने वाले) से ये प्लेट मिली थी।

उस प्लेट पर रूपहली कलम से गोलाकार में उर्दू का एक खूबसूरत शेर लिखा है–

"ख़ाकसारी में इन्तख़ाब हूँ मैं
याने मिट्टी का एक ख़्वाब हूँ मैं
आपकी मेज़ पर जगह जो मिली
अब बुलन्दी में आफ़ताब हूँ मैं"

और कहना न होगा कि इस एक शेर ने उसकी कीमत क्या से क्या कर दी है।

लखनऊ में चाँदी के खूबसूरत गहनें जैसे अनोखा, छागल, पग–पान, पाज़ेब, छैलचूड़ी, चन्द्रहार (तौंक), छलबल, परीछम, जहाँगीरी का पुराना कारोबार रहा है। इन गहनों में हमेल की ताबीज़ की पीठ पर सुहानी दुआएँ लिखी जाती थीं या उम्दा शेर नक्श किये जाते थे। आज भी यहाँ चाँदी की मछलियाँ, शादी–ब्याह, तिलक, गौने में चलती हैं और ज़ो ख़ास दान केवड़ा पाश या गुलाब चम्बल बनते हैं उनके पाए मछलियों दार होते हैं।

पान के रूपहले गिलौरीदान जो समधियाने या मधुर सम्बन्धों में तोहफ़े के तौर पर दिये जाते थे उन पर भी सुन्दर शेर सजे होते थे, नमूने के तौर पर–

"पान उसके लब पे हैं, और मैं खड़ा देखा करूँ

एक पत्ते से भी बदतर, क्या मेरी तकदीर है"

यही पनडब्बे के शेर तवायफों के कोठे पर कुछ दूसरा रंग लिए होते थे इसी तरह का एक गिलौरी दान मैंने फिल्म "जुनून" के दौरान निर्देशक श्याम बेनेगल जी को दिया था जिस पर लिखा था–

"हर एक गिलौरी पे, छेड़े है शबे वस्ल

अब ये रुखसत का पान लेते हैं, जानेजानां"

लखनऊ में तवायफों को, जो मुजरे के दौरान कारचौबी के बटुवे सिक्के रख कर क़द्रदानों द्वारा न्यौछावर में दिए जाते थे उन पर आशिकों के दिल का हाल सलमें सितारों से दर्ज रहता था– मसलन

'उधर बालों में कंघी हो रही है

ख़म निकलता है

इधर रग–रग से खिंच–खिंच कर

हमारा दम निकलता है'

या फिर –

'तुम्हारी माँग ने तो, दिल लिया माँग

अब ये चोटी किस लिए पीछे पड़ी है'

यही "कंघी चोटी के शेर" कहे जाते हैं जिनके लिए लखनऊ शायरी का स्कूल काफ़ी बदनाम रहा है, लेकिन लखनऊ को इसका ग़म नहीं रहा उसे सब मालूम था कि "बदनाम भी गर होंगे तो क्या नाम न होगा।" और इन शेरों में भी उसकी अपनी महारत थी।

अवध कल्चर की पुरानी पहचानों के विक्रेता इस शहर में हमेशा आगे–आगे रहे हैं वो शीशमहल वाले नवाब जाफ़र अब्दुल्ला साहब हों, नगरिया ठाकुरगंज के कालीदास कांच वाला हो, आग़ा मीर ड्योढ़ी पर पीली कोठी वाले रस्तोगी जी हो या रकाबगंज, गौस नगर के लालू भाई (मुहम्मद इसरार) हों इनके यहाँ आपको शमांदानों, झाड़ फानूसों, कंवल, हांडियों और सुसज्जित आइनों की भरमार मिलेगी और फिर उन आईनों पर बनी बेल के साथ–साथ जवाहरात की कलम से अगर इस तरह के शेर नक्शीन हों तो कैसा रहे–

"आईना देखते हैं, इधर देख–देख के

देते हैं दाद मुझको, मेरे इन्तखाब की"

और दूसरा शेर–

"आपको हमने निगाहों में बसा रखा है

आईना छोड़िए, आईने में क्या रखा है।"

यहाँ, कोई ज़माना था जब लड़की की शादी में उसके मायके वालों के हुस्ने हुनर की बेहतरीन नुमाइश होती थी। हर सामान सजा–धजा, हर चीज़ लगी टंकी, ससुराल जाती थी। इनमें सुई के कमाल का तो कहना ही क्या, खूबसूरत पलंग पोश और झालर दार तकिए पर फूल, पत्ती, कली, बेल, चिड़िया, मछली सब काढ़े जाते थे और उनके साथ दामाद साहब की खुशहाली के लिए बेहतरीन शेर रहते थे जैसे–

"या इलाही नर्म तकिया, बाइसे इशरत रहे
सोने वाला सो रहे, और जागती क़िस्मत रहे"

इसी तरह दुल्हन के तकिए पर ये शेर होता–

"रात आरिज़ उसे तकिए, पे बदलते देखा
चाँद को डूबते, सूरज को निकलते देखा"

(आरिज = गाल)

अगर बीबी अपने मियाँ के जन्म दिन के तोहफ़े के लिए अपने हाथों से कशीदा कर के तकिया गलाफ़ तैयार करती तो उस पर यही शेर लिखा होता–

"बुलबुलों गुल न करो, मेरे सनम सोते हैं
तुम तो उड़ जाती हो, वो मुझ पे खफा होते हैं।"

जैसे–जैसे मेरी उम्र बढ़ती गयी मैंने देखा तकियों के शेर बदलते गए और फिर ऐसे अशआरों का ज़माना आ गया –

"मैंने मुद्दत से कोई ख्वाब नहीं देखा है
हाथ रख दो मेरी पलकों पे, कि नींद आ जाए"

या फिर –

"तकिए पे रख के फूल, हमें, यूँ सुला दिया
अब जागते रहोगे, हमारे ही ख्वाब में"

विवाह–शादी के मौक़े पर, तिलक के थाल पोश पर समधी साहब की ख़ातिर और द्वारचार के किश्ती वहार पर दामाद साहब के नाम बड़े नफ़ीस इजहारे मुहब्बत किये जाते थे। यहाँ पर मैं अपनी बहन की शादी पर दिये गये ज़री गोटे से लिखे इन दो मौकों के वो दोनों मुबारक शेर देता हूँ जो आज भी 'मंजू' के घर में महफूज़ है–

"मेरी खाक भी उड़ेगी, बा अदब तेरी गली में
तेरे आस्तां से ऊँचा, न मेरा गुबार होगा"

और

"सब कुछ तो पा लिया है मैंने, तुमको माँग कर
उठते नहीं है हाथ मेरे, इस दुआ के बाद"

समधिन की तरफ से जो चौथी के मटके चार तरह की मिठाइयाँ भर कर समधन को भेजे जाते थे उन पर रंगों से गुलकारी करके छेड़ की रचनाएं लिख दी जाती थीं जैसे–

"चम्पे के दस फूल, कमल की एक कली
मूरख की सब रैन, चतुर की एक घड़ी"

या फिर –

"उलफ़त का बेवफाओं से, मत रोग पालिए
जामुन की डाल पर कभी, झूला न डालिए"

जब हर तरफ रंगदारी का ये आलम रहा तो पतंगबाज इनमें कहाँ पीछे रहते। बड़े–बड़े कनकव्वे लखनऊ के आस्मान पर इतराते और अगर किसी की अटारी पे ढह जाते तो उस के हाथ यही शेर लगता–

"कोई तो बात है तुझमें, ए जाने जाँ, तुझको
भुला रहे हैं मगर, इन्तज़ार करते हैं"

वो ज्यादा शोख़ शरारती हुआ तो पतंग के बहाने ये शेर भी आप तक पहुँचा देगा –

"इस 'नहीं' का कोई इलाज नहीं
रोज़ कहते हैं आप, आज नहीं"

आखिर में रूमाल जो मुहब्बत का नज़राना कहा जाता है उसी का एक शेर आपकी नज़र करना चाहूँगा–

"हमें अपनी यादों में आबाद रखना
बहुत याद आयेंगे हम–याद रखना"

□□